आराधना समुच्चय

(रविचन्द्र मुनीन्द्र विरचित)

सम्पादक एवं हिन्दी टीकाकार

क्षु० सिद्धसागर जी महाराज

प्रस्तावना

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल

एम ए, पी-एच डी, शास्त्री

प्रकाशक

दि० जैन समाज

मोजमाबाद (जयपुर, राजस्थान)

प्राप्ति स्थान :
दि० जैन समाज
मोजमाबाद (जयपुर, राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति
१०००

वीर निर्वाण सं० २४६६
मई १९७०

मूल्य १) रुपया

मुद्रक :
महेन्द्र प्रिन्टर्स
जयपुर-३ (राज०)

विषय सूची

निवेदन

दि० जैन समाज मोजमाबाद का अहोभाग्य है कि श्रद्धेय १०५ क्षुल्लक श्री सिद्धसागर जी महाराज ने मोजमाबाद मे इस वर्ष चातुर्मास किया और इस के बाद भी हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर कुछ समय के लिये यही ठहरने की कृपा की। महाराजश्री जब से मोजमाबाद पधारे हैं पूरे गाव मे एक सास्कृतिक चेतना पैदा हुई है। बालक, युवा एव वृद्धजनो मे जैन धर्म एव साहित्य के प्रति रुचि जाग्रत हुई है। महाराजश्री का शान्त स्वभाव, रात दिन अध्ययनशील रहना, व्यर्थ के आडम्बरो से दूर रह कर आत्म साधना करते रहना आदि कुछ ऐसी विशेषताए हैं जिनके कारण सारा मोजमाबाद ही आपका भक्त बन गया है।

मोजमाबाद प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक धरोहर के लिये प्रसिद्ध रहा है। यहाँ के मन्दिर, भूमिगत भोहरे, शास्त्र भण्डार तथा कला पूर्ण, मनोज्ञ एव विशाल प्रतिमाए सारे राजस्थान के लिये आकर्षण का केन्द्र रही हैं। ऐसे स्थान मे महान् साहित्य सेवी क्षुल्लक जी महाराज का पदार्पण और भी महत्वपूर्ण घटना है। समस्त जैन समाज को इस पर गर्व है कि वह महाराजश्री द्वारा सम्पादित कृति आराधना समुच्चय को अपनी ओर से प्रकाशित करा रही है। इस कृति को प्रकाशन की स्वीकृति देकर महाराजश्री ने समस्त जैन समाज को ही गौरवान्वित किया है इसके लिये हम उनके पूर्ण कृतज्ञ हैं। आशा है भविष्य मे भी इसी तरह का महाराजश्री का आशीर्वाद प्राप्त होता रहेगा।

हम राजस्थान के प्रसिद्ध साहित्य सेवी डा० कस्तूर चद जी कासलीवाल के भी आभारी हैं जिन्होने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने एव मोजमाबाद की सांस्कृतिक एव साहित्यिक महत्ता पर प्रकाश डालने की कृपा की है। भविष्य मे डा० साहब की हमारे पर इसी तरह कृपा बनी रहेगी ऐसा हमारा पूर्ण विश्वास है।

निवेदक

समस्त दि० जैन समाज

मोजमाबाद

सम्पादकीय

आराधना समुच्चय ईसा की १० वी शताब्दी में होने वाले श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र द्वारा रचित सस्कृत का एक अनुपम ग्र थ है। जैसे शब्द हित–मित एव प्रिय अच्छे लगते हैं इसी तरह आराधना समुच्चय भी सक्षिप्त, मधुर एव कोमल है। इसमे आराध्य आराधक, आराधना के उपाय, आराधना और उसका फल का सुन्दर विवेचन किया गया है। इस ग्र थ का प्रकाशन सर्व प्रथम भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से सन् १६६७ मे हुआ था तथा डा० उपाध्ये ने बडे परिश्रम के साथ उसका सम्पादन किया था। लेकिन मूल रूप मे प्रकाशित होने के कारण पाठको को इसका अर्थ समझने मे कठिनाई होती थी। कुछ श्रावको ने तो इसका हिन्दी अनुवाद करने का प्रस्ताव भी मेरे सामने रखा था। इसी के फलस्वरुप हिन्दी मे तात्पर्य प्रकट करने वाली देशीय भाषा मय टीका पाठको के हाथो में दी जा रही है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि इस पुस्तक का स्वाध्याय करके हम समाधि साधना के विषय मे थोडा परिज्ञान अवश्य प्राप्त करे। तभी इसके प्रकाशन की उपयोगिता हो सकेगी।

इसके कतिपय पद्य गोमटसार की सस्कृत टीका मे प्रमाण रूप मे उपस्थित किये गये है जिनसे इस ग्रन्थ की महत्ता का पता लगता है। ग्र थ की अनेक विशेषताएँ हैं जिनका इसका मनन करने के पश्चात् ही रसास्वादन किया जा सकता है। स्वय ग्र थकार ने भी ग्र थ प्रशस्ति मे इसे "अखिलशास्त्रप्रवीण विद्वन्मनोहारी" कह कर उसकी प्रशसा की है।

इस ग्र थ की प्रेस कापी करने मे श्री० बा० मिलापचन्द जी गोधा बागायत वालो ने जो परिश्रम किया है वह अत्यधिक प्रशसनीय है। उन्हे मेरा शुभाशीर्वाद है। मेरा एक और आशीर्वाद है डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये कोल्हापुर

वालो को, जिनकी सम्पादित प्रति के आधार पर प्रस्तुत ग्रंथ का सम्पादन एव प्रकाशन हो सका। ग्रंथ की प्रस्तावना डा० कस्तूर चन्द जी कासलीवाल जयपुर ने लिखने का कष्ट किया है इसलिए उन्हें भी मेरा शुभाशीर्वाद है। इस ग्रंथ का प्रकाशन दि जैन समाज मोजमाबाद ने कराया है। मोजमाबाद मध्यकाल में जैन साहित्य एव सस्कृति का केन्द्र रहा है। आज भी यहा की समाज का नवयुवक वर्ग जाग्रत है और उसमे लगन है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि यहा के समाज मे धार्मिक, सामाजिक एव सास्कृतिक सभी तरह की चेतना जाग्रत रहे जिससे साहित्य प्रकाशन का कार्य स्थायी रूप से चल सके। उसे मेरा यही शुभाशीर्वाद है।

क्षु० सिद्धसागर

———

प्रस्तावना

जैन आचार्य और विद्वान् देश की विभिन्न भाषाओ मे विशाल एव महत्त्वपूर्ण साहित्य की सर्जना करके अपने साहित्य प्रेम का ज्वलत उदाहरण प्रस्तुत करते रहे हैं। इन विद्वानो ने लोकहित एव लोकरुचि का सदैव ध्यान रखा और इसी दृष्टि से सम्पूर्ण साहित्य का निर्माण किया। भाषा मोह के चक्कर मे वे कभी नही पडे और देश की सभी भाषाओ को अपनी कृतियो से अलकृत करते रहे। भारत के विभिन्न ग्र थ सग्रहालयो मे उनकी कृतियो का जो विशाल भण्डार मिलता है वह इस दिशा मे पर्याप्त एव ठोस प्रमाण है।

आराधना समुच्चय सस्कृत की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसमे केवल २५२ सस्कृत पद्यो मे कवि ने जैन धर्म की प्रमुख विचारधारा को अच्छी तरह खोलकर रख दिया है। ग्र थ मे आराधना के माध्यम से मानव मात्र को सुपथ पर चलकर निर्वाण तक पहुँचने का उपाय बतलाया गया है। जैन आचार्यों ने आराधना विषयक कितनी ही कृतियो को प्रस्तुत करके इस ओर अपनी ही नही लोक रुचि का भी प्रदर्शन किया है। श्री वेलकर ने अपने जिनरत्नकोश मे २७ से भी अधिक रचनाओ का उल्लेख किया है। इधर राजस्थान के जैन ग्र थ भण्डारो पर जो कार्य हुआ है और श्री महावीर क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से सूचियो के जो चार भाग प्रकाशित हुये हैं उनमे आराधना विषक और भी कितनी ही रचनाओ का पता चला है। ये रचनायें देश के शास्त्र भन्डारो मे अब तक उपलब्ध कृतियो में प्राकृत, सस्कृत एव हिन्दी भाषा मे निबद्ध हैं। कुछ प्रमुख रचनाओ के नाम निम्न प्रकार हैं—

१ आराधनासार	देवसेन	अपभ्र श	६ वी शताब्दी
२. भगवती आराधना	शिवार्य	प्राकृत	

३.	आराधना सार प्रबन्ध	प्रभाचन्द्र	संस्कृत	
४	आराधनासार वृत्ति	आशाधर	,,	१३ वी शताब्दी
५	आराधना पर्यन्त	सोमसूरि	प्राकृत	
६	आराधना कुलक	अभयसूरि		
७.	आराधना पताका	वीरभद्र सूरि	,,	
८	आराधना प्रतिबोधसार	भ०सकलकीर्त्ति	हिन्दी	१५ वी
९	,,	विमलेन्द्र सूरि	,,	,,
१०.	आराधनासार	ब्र० जिनदास	,,	,,
११.	आराधना कथाकोश	ब्रह्मनेमिदत्त	संस्कृत	
१२	आराधना समुच्चय	रविचन्द्र मुनीन्द्र	,,	

इससे यह स्पष्ट है आराधना विषय जैन विद्वानो की दृष्टि मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है और समय समय पर उन्होने विभिन्न भाषाओ मे ग्रन्थो का निर्माण किया है। देवसेन का आराधनासार एव शिवार्य के भगवती आराधना की जैन समाज मे सर्वाधिक मान्यता है। यही नही प्रभाचन्द्र के आराधना प्रबन्ध तथा ब्रह्म नेमिदत्त के आराधना कथाकोश ने इस विषय पर श्रावको मे और भी रुचि जाग्रत की है।

प्रस्तुत कृति "आराधना समुच्चय" रविचन्द्र मुनीन्द्र की कृति है। इसमे विद्वान् सन्त ने आराधना के चार भेद (सम्यग्दर्शन आराधना, सम्यग्ज्ञान आराधना, सम्यक्चारित्र आराधना एव सम्यक्तप आराधना) के अतिरिक्त आराध्य का उपाय एव आराधना के फल पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त सम्यक् चारित्र के स्वरुप का वर्णन करते समय बारह भावनाओ का भी अच्छा चित्रण प्रस्तुत किया है।

इसी तरह कवि ने प्रसंग वश ध्यान का भी जो वर्णन उपस्थित किया है वह भी सरल एव सामान्य पाठको के लिये बुद्धिगम्य है। कृति की भाषा अत्यधिक सरल है तथा वर्णन शैली ललित है। सारा वर्णन एक ही प्रवाह मे हुआ है।

आराधना समुच्चय के रचियता रविचन्द्र मुनीन्द्र हैं जो अपने आपको मुनीन्द्र उपाधि मे अलकृत करते थे। आचार्य लिखने के स्थान पर वे मुनीन्द्र लिखना अच्छा समझते थे। रविचन्द्र कब हुए, उनकी गतिविधियों का मुख्य केन्द्र कौनसा था, कितनी कृतियो से उन्होने जैन साहित्य की श्रीवृद्धि की थी आदि ज्ञातव्य तथ्यो का उनकी इस कृति से कोई जानकारी नही मिलती। आराधनासमुचय मे उन्होने अपना परिचय जो दिया है वह निम्न प्रकार है—

श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रै पनसोगेग्रामवासिभि ग्रंन्थ'
रचितो ऽयमखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी ॥

उक्त पद्यसे केवल उनका नाम का तथा पनसोगे ग्राम का जहा इस कृति की रचना समाप्त हुई थी, जानकारी मिलती है। पनसोगे ग्राम डा ए एन उपाध्ये के अनुसार कर्नाटक प्रदेश मे स्थित है इससे यह तो सभवत स्पष्ट है कि कवि दक्षिण भारत के निवासी थे और उनका कार्य क्षेत्र भी दक्षिण भारत ही रहा था। क्योकि अब तक जितने रविचन्द्र नाम के विद्वानो के उल्लेख मिला है वह सब दक्षिण भारत से सम्बन्धित हैं। डा उपाध्ये ने आराधनासमुच्चय की प्रस्तावना मे रविचन्द्र नाम के विद्वानो का निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

(१) बाम्बे जनरल की आर ए एस ब्राच पृष्ठ सख्या १७१-२ २०४ पर प्रकाशित एपिग्राफिका कर्नाटिका XII गुब्बी तालुक न ५७ मे रविचन्द्र के १०वी शताब्दी के अन्तिमभाग के विद्वान थे।

(२) साउथ इन्डियन एपिग्राफिकी रिपोर्ट मे प्रकाशित धारवाड के सन् ९६२

के लेख मे रविचन्द्र मुनिश्वर के नाम का उल्लेख आया है।

(३) श्रवणबेलगोल के शिलालेखो मे जिस रविचन्द्र का उल्लेख हुआ है वे लगभग सन् ११-१ के थे।

(४) वाराणसी से प्रकाशित जैन शिलालेख सग्रह के चौथे भाग मे राम और रविचन्द्र के नाम का उल्लेख हुआ है जो मासोपवासी थे तथा जो सन् १०६६, १२०५ एव १३ वी शताब्दी के शिलालेख हैं।

उक्त सभी रविचन्द्र कर्नाटक प्रदेश मे हुए और वही प्रदेश उनकी साहित्यिक एव सास्कृतिक गतिविधियो का केन्द्र रहा। इसलिये यही अधिक सभव है कि आराधना समुच्चय के कर्त्ता भी कर्नाटक प्रदेश के रहे हो और दक्षिण भारत ही उनकी गतिविधियो का केन्द्र रहा हो। लेकिन उक्त लेखो के आधार पर यह निश्चित नही हो सकता कि इनमे कौनसा रविचन्द्र आराधना समुच्चय का कर्त्ता था। रविचन्द्र का समय निश्चित करने मे निम्न दो सकेत और सहायक हो सकते हैं—

(१) रामसेन कृत तत्वानुशासन म से स्वय रविचन्द्र ने एक पद्य "तत्त्वज्ञान मुदासीनम" का उद्धाहरण दिया है इससे रविचन्द्र रामसेन के परवर्त्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं

(२) भ० शुभचद्र कृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका मे आराधना समुच्चय के कुछ पद्यो को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। भ० शुभचन्द ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका को सन १५५६ मे समाप्त किया था इसलिये आराधना समुच्चय की रचना अवश्य ही इसके पूर्व हुई होगी लेकिन उक्त दोनो ग्र थो के रचना समय मे पर्याप्त अन्तराल है इसलिये शीघ्रता मे कवि के समय के बारे मे कुछ कहा नहीं जा सकता। फिर भी

यदि उन्हे ११ वी शताब्दी के आस पास का ही माना जावे तो वह उचित ही रहेगा।

आराधना समुच्चय का सर्व प्रथम भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से सन् १९६७ मे डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के सम्पादकत्व मे माणिकचन्द दि० जैन ग्र थमाला के ४९ वें पुष्प के रूप मे प्रकाशन हुआ था। उत्तर भारत के ग्र थ भण्डारो मे अभी तक इस ग्र थ की कोई पाडुलिपि नही मिली इसलिये डा० उपाध्ये जी ने भी इसका सम्पादन मूडबिद्री के शास्त्र भण्डार वाली प्रति के आधार पर किया था। लेकिन वह केवल मूल ग्र थ का ही प्रकाशन था और साथ मे उसकी अनुवाद भी नही था इसलिए इस कमी को पूरा करने के लिये श्रद्धेय क्षुल्लक सिद्धसागर जी महाराज ने इसकी हिन्दी टीका करके एक महत्वपूर्ण कार्य किया है। श्री क्षुल्लक जी महाराज अनवरत साहित्य सेवा मे लगे रहते हैं और किसी न किसी पुस्तक का अनुवाद अथवा सम्पादन किया ही करते हैं। साहित्य निर्माण के प्रति उन जैसी अद्भुत लगन बहुत कम साधुओ मे पायी जाती है। आपका सस्कृत प्राकृत दोनो ही भाषाओ पर समान अधिकार है। इस ग्र थ की भाषा टीका जब उनका चातुर्मास जयपुर मे था तब ही समाप्त हो गयी थी। लेकिन इसका यह प्रकाशन दि० जैन समाज मोजमाबाद की ओर से किया गया है। आजकल श्री क्षुल्लक जी महाराज मोजमाबाद ही विराज रहे है। मोजमाबाद का दि० जैन समाज का यह कार्य अत्यन्त प्रशसनीय है और अन्य नगरो एव गावो की समाजो के लिये अनुकरणीय है।

मोजमाबाद राजस्थान का प्राचीन नगर है और यह पर्याप्त समय तक जैन साहित्य एव सस्कृति का केन्द्र रहा है। इसका सक्षिप्त परिचय इसी पुस्तक मे अलग से दिया जा रहा है। इस अवसर पर मोजमाबाद के उत्साही युवको एव कार्यकताओ से अनुरोध है कि वे अपने यहाँ से प्रतिवर्ष किसी एक दो पुस्तकों का प्रकाशन अवश्य करावें जिससे युवको मे जैन साहित्य के प्रति रुचि

बढे और इसके पठन पाठन मे कुछ गति आवे। इस दिशा में यदि उत्साही युवक श्री गम्भीरमल जी चौधरी प्रयास करे तो यह काम अवश्य हो सकता है।

अन्त मे एक बार फिर आदरणीय श्री क्षु० सिद्धसागर जी महाराज के साहित्यक कार्यों की अभिशसा करता हूँ तथा आशा करता हूँ कि वे भविष्य मे इसी तरह साहित्य सेवा करते रहेगे और समाज को एक नयी दिशा प्रदान करेंगे।

डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल

मध्यकालीन साहित्य एवं कला केन्द्र : मोजमाबाद

राजस्थान के प्राचीन नगरो मे मोजमाबाद का नाम विशेषत उल्लेखनीय है। इस नगर की स्थापना कब हुई और इसका नाम मोजमाबाद क्यो पडा इसकी अभी खोज होना शेष है। लेकिन विक्रम की १७ वी शताब्दी मे इस नगर का वैभव अपनी चरम सीमा पर था। मुगल बादशाह एव जयपुर के शासक दोनो ही इस नगर से आकृष्ट थे। एक जनश्रुति के अनुसार जयपुर के महाराजा मानसिंह प्रथम का बाल्यकाल का कुछ समय यही व्यतीत हुआ था और उनकी माता का देहान्त भी इसी नगर मे हुआ था। जिनकी स्मृति मे यहा छत्रियां बनी हुई हैं। जो राणीजी की छत्री के नाम से आज भी प्रसिद्ध है।

साहित्य एव कला की दृष्टि से मोजमाबाद की अपनी विशेषता है। इस नगर ने कवियो को जन्म दिया। यह पाण्डुलिपिया लिखने वालो का केन्द्र बना, इसने मन्दिर निर्माण की कला को राजस्थान भर मे जागृत किया। हजारो मूर्तियो की प्रतिष्ठापना करके अपना एक नया कीर्तिमान स्थापित किया तथा सैकडो ग्रन्थो को सुरक्षित रखकर भारतीय साहित्य को नष्ट होने से बचाया। जिस प्रकार भोपाल के तालाब प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार यह नगर भूमिगत मन्दिरो अर्थात् भौंहरो के लिए प्रसिद्ध है। इन भूमिगत मन्दिरो मे प्रवेश करते ही अपूर्व शान्ति का अनुभव होने लगता है।

जयपुर और अजमेर के मध्य मे स्थित यह नगर एक समय साहित्य निर्माण एव उसके प्रचार का राजस्थान मे प्रमुख केन्द्र रहा। विक्रम सवत् १६६० मे यहा हिन्दी के जैन कवि छीतर ठोलिया हुये जिन्होने इसी नगर में रहते हुये होलिका चौपई को छन्दोबद्ध किया। उस समय यह नगर आमेर के महाराजा मानसिंह प्रथम के शासन मे था। कवि ने अपनी कृति के अन्त में

कृति का समाप्ति काल, नगर वर्णन एव महाराजा मानसिह के नाम का उल्लेख किया है जो निम्न प्रकार है ।

सोलासे साठे शुभ वर्ष,
फाल्गुण शुक्ल पूर्णिमा हर्ष ।
सोहै मोजमाबाद निवास,
पूजै मन की सगली आस ।
सोहै राजा मान को राज,
जिहि बाधो पूरव लग पाज ।
सुखी सबै नगर मे लोग,
दान पुन्य जाने सहु भोग ।
यह विधि कलयुग मे दिन राति,
जाणै नही दुख की जाति ।
छीतर ठोल्यो विनती करे,
हिवडा माहि जिन वाणी धरे ।

छीतर ठोलिया के एक वर्ष पूर्व यहा के निवासी नानू गोधा के आग्रह से भट्टारक वादीभूषण के शिष्य आचार्य ज्ञानकीर्ति ने सस्कृत मे यशोधर-चरित नामक काव्य की रचना करके यहा की साहित्य गतिविधियो की वृद्धि मे अपना योगदान दिया । नानू गोधा उस समय महाराजा मानसिह के प्रधान अमात्य (मत्री) थे । जब कवि ने इस ग्र थ की समाप्ति की तो नानू गोधा महाराजा मानसिह के साथ बगाल के अकबर नगर मे थे । कवि ने अपनी कृति के परिचय भाग मे महाराजा मानसिह को राजाधिराज की उपाधि से सम्बोधित किया है तथा लिखा है कि उनके चरण कमल अनेक राजाओ के मुकुटो से पूजित थे, अपने दान प्रकृति से उन्होने सारे विश्व को सतुष्ट कर रखा था

तथा जिसका यश सूर्य के समान चारो दिशायो मे व्याप्त था। ऐसे महाराजा का महान अमात्य था नानू गोधा। जिसका यश भी अपने स्वामी के समान चारो दिशाओ मे व्याप्त था। जिन्होने कैलाश एव सम्मेद शिखर की तीर्थयात्राये की थी तथा जिनकी नव साहित्य निर्माण करवाने की ओर विशेष रुचि थी। यशोधर चरित एक प्रबन्ध है। इस काव्य की एक पाण्डुलिपि जयपुर के महावीर भवन के सग्रहालय मे उपलब्ध है। प्राप्त पाण्डुलिपि स० १६६१ अर्थात् अपने रचनाकाल के केवल २ वर्ष पश्चात् की ही लिखी हुई है।

स० १६६४ (सन् १६०७) ज्येष्ठ कृ० ३ इस नगर के लिए अपने इतिहास का स्वर्ण दिन था। इस दिन यहा जैन मन्दिर का निर्माण होने के पश्चात् एक बडा भारी समारोह आयोजित किया गया जो पच-कल्याणक प्रतिष्ठा के नाम से विख्यात है। प्रतिष्ठाकारक थे महाराजा मानसिंह के विश्वस्त अमात्य स्वय नानू गोधा। इसलिये यह समारोह राजकीय स्तर पर आयोजित किया गया। इसमे राजस्थान के ही नही समूचे देश के विभिन्न ग्रामो एव नगरो से लाखो की सख्या मे जैन एव जैनेतर समाज एकत्रित हुआ। और भगवान ऋषभदेव की मूर्ति सहित सैकडो की सख्या मे जिन मूर्तियो की प्रतिष्ठा विधि सम्पन्न हुई। सभव है इस समारोह मे मुगल बादशाह अकबर के प्रतिनिधि तथा स्वय महाराजा मानसिंह भी सम्मिलित हुये हो क्योकि प्रतिष्ठा समारोह एव मन्दिर निर्माण को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे नानू गोधा ने उस समय अपनी समस्त विशाल सम्पत्ति का मुक्त हस्त से वितरण करके उसका सस्कृति, साहित्य एव कला के विकास मे सदुपयोग किया था।

अपनी कला एव विशालता के लिये शीघ्र ही नानू गोधा द्वारा निर्मापित नगर का यह जैन मन्दिर सारे राजस्थान मे प्रसिद्ध हो गया। लोग सुदूर प्रान्तो से दर्शनार्थ आने लगे और सैकडो वर्षों तक यह उनका तीर्थ स्थान बना रहा। मदिर के ऊपर जो तीन शिखर है वे मानो दूर से ही जनसाधारण को अपनी ओर आमत्रित करते है तथा साथ ही मे जगत को सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान

एवं सम्यक् ग्राचरण के परिपालन का सन्देश देते हैं। मंदिर के प्रवेश द्वार से आगे एक विशाल चौक और आता है। जिसके निज मंदिर के प्रवेश वाला द्वार का भाग अत्यधिक कला पूर्ण है। इसे आठ भागो मे विभक्त किया गया है तथा श्वेत एव लाल पाषाण पर कला की अदभुत् कृतियो को उकेरा गया है। मुख्य द्वारो पर विभिन्न भाव नृत्यो के साथ देव देवियो के चित्र भी हैं। देव तथा देविया पूर्णत समलकृत तथा साज सज्जा सहित दिखाये गये हैं। एक चित्र में सरस्वती अपने हाथ से हस को मोती चुगा रही है। इन देवियो की विभिन्न नृत्य मुद्राये देखकर ऐसा आभास होने लगता है मानो दर्शकगण किसी इन्द्र सभा मे आ गये हो। प्रवेश द्वार पर गणेशजी की मूर्ति खुदी हुई है जिसमे जैन एव ब्राह्मण सस्कृति के समन्वय का पता चलता है। कही पर हाथी अपनी सूड से जल भरकर तीर्थंकर का अभिषेक कर रहा है तो कही सिंह वाहिनी देवी की मूर्ति दिखाई देती है। सचमुच लाल एव श्वेत पाषाण पर दर्शित यह कला भारतीय एव राजस्थानी कला का अच्छा प्रस्तुतिकरण है।

इस मदिर मे दो भूमि गत मन्दिर भी हैं जिनमे तीर्थंकरो की भव्य एव कलापूर्ण मूर्तिया विराजमान हैं। सभी मूर्तिया स० १६६४ मे प्रतिष्ठापित हैं। और अपने नानू गोधा की कीर्ति को अनन्तकाल तक स्थाई रखने को उद्यत हैं। भगवान आदिनाथ की जो विशाल पद्मासन मूर्ति है उसमे कलाकार ने मानो अपनी समस्त कला को उडेल दिया है। यह उसके वर्षों की साधना होगी। ऐसी सौम्य एव मनोज्ञ मूर्तिया बहुत कम मन्दिरो मे उपलब्ध होती हैं।

मन्दिर निर्माण का कार्य सभवत. बराबर चलता रहा होगा और १७८० मे ही छत्री निर्माण के साथ वह समाप्त हुआ होगा। छत्री मे जो लेख अ कित है उसके अनुसार इसके निर्माण मे उस समय ११ १ रु० लगे थे। चौधरी नन्दलाल के पुत्र जोधराज ने इसके निर्माण कराने मे अपना योग दिया मकराना के नागराज बलदेव छत्री निर्माण के प्रमुख शिल्पकार थे।

मोजमाबाद का हस्तलिखित पाडुलिपियो के सग्रह की दृष्टि से भी

महत्वपूर्ण स्थान है। यहा के ग्र थ सग्रहालय मे प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श एव हिन्दी के ग्र थो की पाडुलिपिया उपलब्ध होती हैं। जो दर्शन, साहित्य एव कला पर शोध करने वाले विद्यार्थियो के लिये बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती हैं, प्रवचनसार (कुन्दकुन्द) जैनेन्द्र व्याकरण, षट्कर्मोपदेश रत्नमाला, (अमरकीर्त्ति) त्रिषष्ठिस्मृति, (आशाधर) योगसार, (अमितगति) तत्वार्थसूत्र टिप्पण, (योगदेव) तथा अपभ्र श के आदि पुराण पर प्रभाचन्द का टिप्पण इन्ही ग्रन्थों के सग्रह मे है। इसी भडार मे कृष्णरुक्मिणिवेलि की एक अत्यधिक प्राचीन एव शुद्ध पाण्डुलिपि सुरक्षित है। जिस पर लाखा चारण की टीका है। लाखा चारण कृत टीका वाली पाण्डुलिपि अभी तक राजस्थान के अन्य भन्डारो में उपलब्ध नही हो सकी है। यशोधर चरित की दो सचित्र पाण्डुलिपिया शास्त्र भण्डार की अमूल्य घरोहर है।

नगर के बाहर जो जैन नसिया है उसके मुख्य द्वार पर एक लेख अकित है। यह लेख सवत् १९३२ का है। जिसमे हिन्दू और मुसलमान बन्धुओं से धार्मिक स्थानो की पवित्रता बनाये रखने का आग्रह किया गया है। यहा चारभुजा का प्राचीन वैष्णव मन्दिर भी है। अभी गत आठ दस वर्ष पूर्व ही यहा गाव मे बिचरने वाले एक साड का स्मारक बनाया गया है जो आस पास के ग्रामीणजनो की श्रद्धा का केन्द्र बनता जा रहा है। मानव मात्र ही नही किन्तु पशु तक के प्रति स्नेह एव श्रद्धा का यह अद्भुत स्मारक है।

डा० कस्तूर चन्द कासलीवाल

आराधना समुच्चय

(श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र विरचित)

सम्यग्दर्शन-बोधन-चरित्र-रूपान् प्रणम्य पञ्चगुरून् ।
आराधना-समुच्चय-मागमसारं प्रवक्ष्यामि ॥ १ ॥

सच्चे श्रद्धान, सच्चे ज्ञान और सच्चे चरित्र के स्वरूपवान् पञ्च गुरुओ को प्रणाम करके आगम के निचोड रूप आराधना-समुच्चय को हम कहेंगे ॥१॥

आराध्याराधकजन-सोपायाराधनाफलाख्यं तु ।
पाद-चतुष्टयमेतत्समुदितमाराधना-सिद्ध्यै ॥ २ ॥

किन्तु इतना विशेष है कि—आराधना की सिद्धि के लिए आराध्य, आराधकजन, उपाय सहित आराधना तथा उसका फल यह पाद चतुष्टय कहा गया है।

तत्राराध्य गुणगुणिभेदाद् द्विविध गुणाश्च चत्वार. ।
सम्यग्दर्शन-बोधन-चरित-तपो नाम समुपेता ॥ ३ ॥

उस पाद चतुष्टय मे आराध्य गुण और गुणी के भेद से दो प्रकार का है। आराध्य गुणी पुरुषो मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र तथा सम्यक् तप नाम वाले चार गुण होते हैं ॥३॥

आप्तागम-तत्त्वार्थ-श्रद्धान तेषु भवति सम्यक्त्वम् ।
व्यपगत-समस्त-दोष सकल-गुणात्मा भवेदाप्त ॥ ४ ॥

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी आप्त का, आप्त के उपदेश रूप आचार्य सग्रहीत वचन का और आगम निरूपित तत्वार्थ का श्रद्धान उन आराधनाओ मे सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन होना है। जिसके होने पर ज्ञान प्रयोजन भूत मोक्ष-मार्ग और उसके विषय मे सच्चा हो जाता है या सशय विपर्यय (विभ्रम) तथा मोह (अज्ञान) मे रहित या समारोप (सशयादित्रय) रहित, निर्णय आत्मक हो जाता है वह सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व गुण के पर्याय सम्यक्त्व रूप सम्यग्दर्शन के होने के समय ही सम्यग्ज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान या व्यवसाय या निर्णय को या समारोप रहितपने को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सम्यक्त्व, ज्ञान मे तत्वार्थ श्रद्धान को उत्पन्न कर देता है। सर्वार्थसिद्धि सू० ३२ की वृत्ति मे कहा है कि "सम्यग्दर्शन, पुनस्तत्त्वार्थाधिगमे श्रद्धानमुत्पादयति। ततस्तन्मतिज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञान भवति" इति पृ० ८३। सुश्रद्धान के उत्पन्न होने मे ज्ञान सच्चा कहलाता है अत तत्वार्थ श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहा है ॥ ४ ॥

आप्तोक्तावागागमसज्ञा नाना प्रमाण-नय-गहना।
स्यावागमप्ररुपित-रूप-युतार्था हि तत्त्वार्था ॥५॥

आप्त के द्वारा उपदिष्ट (कही गई) वाणी की आगम सज्ञा है तथा उसके अनुसार आचार्यो के वचन सकेतादिक से उत्पन्न होने वाला तात्पर्य रूप अर्थ ज्ञान भी आगम है। वह द्रव्य श्रुत नाना प्रमाणो तथा नयो की विवेचना से गहन है। उक्त स्यादवाद आगम मे प्ररुपित स्वरूप से सहित (जीवादिक पदार्थ) ही सचमुच प्रकृत मे तत्वार्थ माने गये हैं अन्य नही।

क्षुतृड्-भी-क्रुधाग-प्रमोह-चिन्ता-जरा-रुजा-मृत्यु।
खेद-स्वेद-मदाऽरति, विस्मय-निद्रा-जनोद्वेगा ॥
दोषास्तेषा हन्ता केवल-बोधादयो गुणास्तेषाम्।
आधार॰ स्यादाप्तस्तद्विपरीत सदानाप्त ॥ युग्मम् ॥६-७॥

क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध, राग, मोह, चिन्ता, जरा, रोग, मृत्यु (नवीन आयु के प्रारम्भ में पूर्वायु का अभाव) खेद, स्वेद (पसीना) मद, अरति विस्मय, निद्रा तथा शोक ये दोष हैं इनके नाश करने वाले आप्त हैं तथा केवलज्ञानादिक उनके गुण हैं उनका जो आधार है वह आप्त है तथा जो उक्त दोषों में से किसी एक भी दोष से सहित है तब तक वह सदा अनाप्त (सम्यग् वक्ता नही) है ॥६-७॥

तद्वचनात् पूर्वापर-विरोधरूपादि-दोष-निर्मुक्तः ।
स्याद्वादागमस्तु तत्प्रति-पक्षोक्तिरनागमो नाम ॥८॥

उस आप्त के मुख से पूर्वापर विरोध स्वरूप इत्यादि दोषो से रहित स्यादवाद आगम होता है किन्तु उसके प्रतिपक्षी अनाप्त रथ्या पुरुष (असत्य-वादी) आदिक की उक्ति अनागम नाम से विख्यात है। यही स्वामी समन्तभद्र द्वारा भी कहा गया है :—

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथ-घट्टनम् ॥

जीवाजीवौ धर्माधर्मौ कालाकाशे च षडपि तत्त्वार्थाः ।
नाना-धर्माक्रान्ता नेतररूपाः कदाचिदपि ॥९॥

जीव, अजीव, धर्म-अधर्म, काल और आकाश ये छहो तत्त्वार्थ हैं नाना धर्म (गुण, भाव, स्वभाव) से सहित होने से ये-"गुणपर्ययवद्द्रव्य" गुण और पर्याय वाले द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य (सत् स्वरूप सहित) युक्त होने से द्रव्य या तत्त्वार्थ हैं किन्तु जो सामान्य विशेष गुण धर्म से रहित सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य माने जाते हैं, वे सर्वथा अद्वैतादिक (सर्वात्मकरूप वगैरह) रूप कदाचिद् भी वास्तविक स्वरूप वाले अर्थ सिद्ध नही हो सकते हैं। तथा वे कार्य कारण सबन्ध से रहित कोई पदार्थ नही है ॥ ९ ॥

सम्यग्दर्शन-चिह्नं, चित्ते प्रशमादिकं विजानीयात् ।

त्रिविकल्पं तदपि भवेदुपशम-मिश्र-क्षयज-भेदात् ॥१०॥

चित्त मे पाये जाने वाले प्रशमादिक विशेष को सम्यग्दर्शन का चिह्न जानना चाहिए। वह सम्यग्दर्शन उपशम, मिश्र तथा क्षय के भेद से तीन भेद वाला है। कहा भी है—

"औपशमिकं सरागं विरागं च, द्वितीयोपशमिकं तथा ।

क्षायिकं वेदकं त्रेधा, दशधाऽऽज्ञादि-भेदतः" ॥

अर्थात् औपशमिक सम्यक्त्व सराग और वीतराग के भेद से दो प्रकार का होता है जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व या प्रथमोपशम सम्यक्त्व राग सहित है वह सराग औपशमिक सम्यक्त्व है किन्तु ग्यारहवें गुणस्थान मे वह अल्पकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र से अधिक नही है। राजवार्तिक मे वह क्षायिक (सम्यक्त्व) की अपेक्षा से कम विशुद्धि वाला माना गया है। ग्यारहवे गुणस्थान का क्षायिक सम्यक्त्व भी वीतराग भाव के साथ एक समय से अन्त-र्मुहूर्त तक ही रह सकता है। क्षायिक सम्यक्त्व बारहवें मे पूर्ण वीतराग तथा सदा वीतराग रहने वाला होता है। एक अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् वह तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। वेदक सम्यक्त्व सातवे गुणस्थान तक सराग अवस्था मे ही पाया जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं। उसके आज्ञादिक के भेद से दश भेद होते हैं। राजवार्तिक, आत्मानुशासन आदिक से इनके स्वरूप का निर्णय करना चाहिए ॥ १० ॥

तेषूपशमसम्यग्-दर्शन मुत्पत्तितो द्विधा भवति ।

मिथ्यादृष्टेराद्य वेदक-सम्यग्दृशोऽन्यत् ॥११॥

उपशम सम्यग्दर्शन उत्पत्ति की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है। मिथ्यादृष्टि से प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है सादि मिथ्यादृष्टि

से भी द्वितीय बार प्रथम उपशम सम्यक्त्व हो सकता है। किन्तु जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है वह वेदक सम्यग्दृष्टि से ही होता है अर्थात् वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व मिथ्यात्वादिक तीन गुणस्थानो से उत्पन्न नही होता है और जो प्रथमोशम से द्वितीयोपशम मे परिणत होता है किन्तु वह श्रेणी के उन्मुख सयत के क्षयोपशम सम्यक्त्व या वेदक सम्यक्त्व से ही होता है कृतकृत (मिथ्यात्व का क्षय करने वाला) वेदक होने पर फिर उपशम सम्यक्त्वी नहीं होता है। तीसरे, चौथे, पाचवे तथा सातवें से भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है दूसरे से नही क्योकि वह मिथ्यात्व मे ही जाता है। प्रथम, तृतीय, चतुर्थ, पचम व छठवे तथा सातवें से क्षयोपशम हो सकता है ॥ ११ ॥

मिथ्यादृष्टिर्भव्यो, द्विविध सञ्ज्ञीसमाप्तपर्याप्ति.।
लब्धिचतुष्टय-युक्तोऽत्यन्त-विशुद्धश्चतुर्गतिज ॥ १२ ॥
जाग्रदवस्थाचस्य साकारोपयोग सयुक्त ।
योग्यस्थित्यनुभवभाक् सल्लेश्यावृद्धियुक्तश्च ॥ १३ ॥
त्रिकरणशुद्धि कृत्वाप्यन्तरमुत्पादित--त्रिदृग्मोह ।
गृह्णात्याद्य दर्शनमनन्तससारविच्छेदी ॥ 'त्रिकम् ॥ १४ ॥

मिथ्यादृष्टि, भव्य सैनी द्वय (तिर्यंच और मनुष्य) पर्याप्तक, मति या श्रुत ज्ञान उपयोग वाला, गर्भज या उपपाद जन्म वाला, साकार उपयोग वाला, जागृत, चार लब्धियो को प्राप्त करने वाला, विशुद्ध चारो गति मे उत्पन्न हुआ, अपने अपने योग्य काल मे आगमानुसार करणलब्धि के तीन भेदो के समाप्त होने पर तथा उनसे पूर्व मे योग्य स्थिति तथा अनुभाग के यथासभव होने पर, यथासभव शुभ लेश्या की अभिवृद्धि से अतरकरण युक्त होकर जीव जब सम्यक्त्व को प्रथम सम्यक्त्व रूप से प्राप्त करता है तब उसके प्रथम समय मे दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व रूपी चक्की मे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति रूप से तीन विभाग हो जाते हैं जब वह प्रथम उपशम

सम्यक् को प्राप्त करता है उस ही समय उसके अक्षय अनन्त ससार का विच्छेद हो जाता है तथा वह परीत संसारी हो जाता है। सम्यक्त्व के होने के पश्चात् वह अर्ध पुद्गल परावर्तन से कुछ कम काल तक ही ससार मे रह सकता है कोई उसी भव से भी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। गर्भज मनुष्य के, द्रव्य स्त्री के, या द्रव्य नपु सक के मनुष्य गति मे गर्भ से निकलने के आठ वर्ष पश्चात् ही उपशम सम्यक्त्व या क्षयोपशम सम्यक्त्व हो सकता है। द्रव्य मनुष्य ही दर्शन मोहनीय की क्षपणा को प्रारभ करने वाला केवली या श्रुत केवली के पाद मूल मे योग्य सहनन और योग्य वय वाला होने पर ही होता है। तीर्थंकर प्रकृति बध का सर्व प्रथम प्रारभिक अरहत या तीर्थंकर के निकट द्रव्य पुरुष मनुष्य गति मे ही होता है। तीनो सम्यक्त्व मे से किसी भी सम्यक्त्व के होने पर दर्शनविशुद्धि के होने पर तीर्थंकर प्रकृति का बध हो सकता है। गर्भज तिर्यंच तथा देव और नारकियो के पर्याप्त हो जाने पर उपशम या वेदक सम्यक्त्व उत्पन्न होते हैं। किन्तु देवो मे द्वितीयोपशम से वेदक सम्यक्त्व रूप मे परिणत होना अपर्याप्त काल मे ही सभव है क्योंकि उपशम का काल अपर्याप्त काल से छोटा है।[1]

शुद्ध वा मिश्र वा विरतिम्यां कर्मभूमिज शुद्धम्।
शेष क्षायिकदर्शनवत्तावत् कलुषताऽभावात् ॥ १५

जो कर्मभूमिज गर्भज मनुष्य गति का जीव है वही सयम को धारण करता है। द्रव्य नपु सक मनुष्य भाव (द्रव्य वेद) से मनुष्यनी गर्भजतिर्यञ्च, गर्भज तिर्यंचनी के देशसयम सभव है। किन्तु भोग भूमिज के देशसंयम भी नही होता है और न सयम ही होता है जैसे कि देव नारकी और सम्मूर्छनो के नही होता है। कर्म भूमिज तिर्यञ्च के क्षायिक सम्यक्त्व नही होता है अत देशसयम के साथ क्षायिक सम्यक्त्व तिर्यंचो के न कर्मभूमिज मे ही सभव है

१ विशेष आगम से जानना चाहिये। देखो लब्धिसार क्षपणासार तथा जय धवला ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ उत्पादित स्थाने उत्पाटित इत्यपि पाठ ।

और न भोगभूमिज तिर्यञ्च मे ही। कलुषता का अभाव होने से क्षायिक दर्शन की भांति शेष कथन है। क्षायिक सम्यक्त्व होने पर वह छूटता नही है। उपशम सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अवश्य छूट जाता है। वेदक सम्यक्त्व जघन्य अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहता है उसका उत्कृष्ट काल छयासठ सागर है। तीनो सम्यक्त्व के साथ सयम और देश सयम पाया जाता है। तिर्यञ्च गर्भज तीनो सम्यक्त्व युक्त पर्याप्त अवस्था मे भोग भूमि मे पाये जाते हैं। कर्मभूमिज गर्भज तिर्यञ्च के पर्याप्त अवस्था मे उपशम या क्षयोपशम के साथ चौथा और पाचवा गुणस्थान हो सकता है तथा मिश्र भी हो सकता है ॥१५॥

परिहार-मनःपर्यय बोधा हारर्द्धिजनन-मरणाद्यं ।
रहित तत्तत्कालो, द्विविधोऽप्यन्तर्मुहूर्त· स्यात् ॥ १६

परिहारविशुद्धिचारित्र, मन पर्ययज्ञान, आहारक शरीर ऋद्धि प्रथम उपशम की अवस्था मे नही होते तथा जन्म-मरणादिक भी नही होते है तथा उपशम का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है तथा एक के होने पर (आदि शब्द से) दूसरा नही होता है ॥ १६ ॥

तत्कालस्यान्ते यदि विराधितो वै भवेद् द्वितीयगुण ।
नोचेद्दर्शनमोह त्रितयान्यतरोदय याति ॥१७॥

उपशम सम्यक्त्व मे प्रथम उपशम सम्यक्त्व के काल मे एक समय या छह आवली तक काल शेष रहने पर यदि अनन्तानुबधी मे से किसी एक कषाय के उदय से उस उपशम सम्यक्त्व की विराधना होती है तो वह जीव दूसरे सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है। मिश्र का उदय होने पर वह तीसरे गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तथा मिथ्यात्व का उदय होने पर वह प्रथम गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तथा वह उपशम सम्यक्त्वी सम्यक्त्व प्रकृति के उदय के होने पर वेदक सम्यक्त्वी हो जाता है ॥ १७ ॥

१८–कालो द्वितीय-गुणिनो ह्यपर समय पर षडावलिकः।
मिथ्यात्वेऽसौ पतति, तु भूम्यामिव गिरिशिरस्खलित.।

दूसरे गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय तथा उत्कृष्ट काल छह आवलिका है किन्तु वह अवश्य मिथ्यात्व मे पडता है जैसे कि गिरि शिखर से स्खलित भूमि पर पड जाता है। वैसे ही सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाला उपशम के काल के समाप्त हो जाने पर यः एक बार अवश्य गिर कर कालान्तर मे भी मिथ्यात्व को प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

१९–सासादनस्य नरकेषूत्पत्तिर्नास्ति मरणमप्यनये।
स्थावरविकलेन्द्रियेषूत्पत्तिरिहाचार्यमतभेदात् ॥

सासादन वाले का नरको मे उत्पाद नही होता है तथा सासादन (दूसरे गुणस्थान) वाला मर कर नरक को प्राप्त नही होता है। दुर्नय या दुर्मत की अपेक्षा मे आचार्य मतभेद से स्थावर और विकलेन्द्रियो मे सासादन वालो की उत्पत्ति मानी है किन्तु वह ठीक नही है क्योंकि एकेन्द्रियो और विकलेन्द्रियो (बे ते चौइन्द्रिय) मे सासादन नही पाया जाता है तथा सासादन वाले वहाँ उत्पन्न नही होते हैं। ऐसा आगम पाया जाता है। जो व्याख्यान सूत्र विरुद्ध होता है वह अमान्य होता है ॥ १९ ॥

अथ मिथ्यात्वोदयगो जघन्यतोऽन्तमुं हूर्तमुत्कर्षात्।
पुद्गल-परिवर्तार्धं तिष्ठति तद् द्विविध-परिणामे ॥२०॥

जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व से गिर कर मिथ्यात्व को प्राप्त हो चुका है वह वहा मिथ्यात्व मे कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहता है तथा अधिक से अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन से कुछ कम काल तक मिथ्यात्वी रह सकता है। दो प्रकार के परिणामो से वह मिथ्यात्व और कुभाव के कारण ससार मे रहता है या राग और द्वेष के वशीभूत होकर उस परवशता मे

रहता है ॥ २० ॥

द्वित्रिचतु पञ्चादिप्रभेदतस्तद्भवेदनेकविधम् ।
कुगतिगमनैकमूल मिथ्यात्व भवति जीवानाम् ॥ २१ ॥

मिथ्यात्व ग्रहीत (दूसरे के उपदेश से) और अग्रहीत के भेद से दो प्रकार का होता है, सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (अज्ञान) के भेद से तीन प्रकार का मिथ्यात्व है। विनय मिथ्यात्व सहित चार भेद वाला होता है, यह सशय मिथ्यात्व का विशेष है। तथा एकान्तमिथ्यात्व विपरीतमिथ्यात्व का विशेष भेद है, उसके मिलाने पर मिथ्यात्व के पाच भेद होते हैं। इस प्रकार अनेक भेद वाला यह मिथ्यात्व जीवो के कुगति गमन का एक प्रधान मूल कारण होता है ॥ २१ ॥

अथ सम्यड्मिथ्यात्व गतवास्तस्योदयोत्थितैर्भावै ।
मिश्रश्रद्धानकरै क्षायोपशमाह्वयैरास्ते ॥२२॥

अन्तर्मुहूर्तकाल, तद्भवमरणाविवर्जितस्तस्मात् ।
च्युतवान् दर्शनमोह, द्वितयान्यतरोदयभवैश्च परिणामै ॥२३॥

यदि वह मिश्र प्रकृति के उदय से होने वाले भावो से जो मिश्र श्रद्धा कराने वाले है, उसके सहित है तो वह क्षायोपशमिक (मिश्र) भाव से सहित है क्योंकि मिश्र जात्यतर सर्वघाति रूप होने मे उत्कृष्ट (मध्यम) देशघाति की भाति है। उस मिश्र गुणस्थान मे वह अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है तथा वहा मरण नही होता है। उस गुणस्थान से च्युत होने पर तथा सम्यक्त्व प्रकृति के उदय होने पर वेदक सम्यक्त्व प्राप्त होता है तथा मिथ्यात्व के उदय होने पर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है या वह उस प्रकार के परिणामो से सहित होता है ॥ २२-२३ ॥

अथ सम्यक्त्व प्राप्तस्तत्कर्मोदयभवैश्च परिणामैः ।
क्षायोपशमिकसज्ञं शिथिलश्रद्धानजैर्वसति ॥२४॥

अन्तर्मुहूर्तकाल जघन्यतस्तत्प्रयोग्ययुक्त ।
षट्षष्टिसागरोपमकालश्चोत्कर्षतो विधाना ॥२५॥

यदि सम्यक्त्व प्रकृति का उदय प्राप्त होता है तो उस कर्मोदय के द्वारा होने वाले परिणाम क्षायोपशमिक शिथिल श्रद्धान से होने वाले भावो के साथ जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल तक तथा वह उसके प्रायोग्य से युक्त छ्यासठ सागर काल तक उत्कर्ष विधि से रहता है ॥ उक्तच .—

लातवे कप्पेते रस, अच्चुदकप्पे य होंति बावीसा ।
उवरिम एक्कतीस, एव सव्वाणि छावठ्ठी ॥

अर्थात् लातवकल्प (लातव स्वर्ग–प्राकृत मे लतव भी लिखा जाता है) मे वेदक सम्यक्त्व सहित कुछ कम तेरह सागर व्यतीत कर पश्चात् मनुष्य मे उत्पन्न हो तप कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग में बाईस सागर को वेदक सम्यक्त्व (क्षयोपशम सम्यक्त्व) के साथ व्यतीत करके मनुष्य हुआ तथा मुनि पद धारण कर उपरिम ग्रैवेयक मे इकतीस सागर तक वेदक सम्यक्त्व के साथ रहा। इस प्रकार सब मिलाकर वेदक सम्यक्त्व के साथ उसके छ्यासठ सागर व्यतीत हुए ॥ २४–२५ ॥

वेदक सम्यग्दृष्टिर्वाऽऽरुरुक्षुरुपशमश्रेणीम् ।
प्रथम–कषायान्करणैराचार्यमतेन विनियोज्य ॥२६॥

वेदक सम्यग्दृष्टि जब उपशम श्रेणी के उन्मुख (सन्मुख) होता है तब अनन्तानुबंधी कषाय का विसयोजन अप्रत्याख्यान रूप मे करणो को करके करता है ऐसा आचार्य मत से जानना चाहिए ॥ २६ ॥

त्रिकरण्यावृड्मोह त्रितयं प्रशमय्य याति चोपशमम् ।
सम्यक्त्वमुपशमश्रेणीनिभकालप्रवेशाभ्याम् ॥२७॥
उपशमकश्रेणि ते नारूह्य ततोऽवत्तीर्य वाम्रियते ।
जनन लेश्या वशतो, निबारितद्धींश्च समुपेति ॥२८॥

तीनो करणो (अध करण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण) के द्वारा दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो का उपशम करके द्वितीय उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके तथा श्रेणी (उपशम श्रेणी=आठवे से ग्यारहवे गुण स्थान तक) के योग्य कालो के साथ उस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के साथ श्रेणी का आरोहण (चढना) करके तथा उतर करके, मरण करके अपनी लेश्या के तथा सहनन के अनुसार दूसरे स्वर्ग से लेकर सर्वार्थ सिद्धि तक कल्पातीत (ग्रैवेयक तथा अनुदिश आदि मे) विमानो मे भी उत्पन्न होता है। वहा वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व अपर्याप्त अवस्था मे रहता है तथा अनुदिश (ग्रैवेयक के उपर आठ दिशादिक मे) विमान अनुत्तरो (पाच अनुत्तर विमानो मे) मे वहा अपर्याप्त अवस्था मे ही वह वेदक सम्यक्त्व के रूप मे परिणित हो जाता है। अपर्याप्त-काल से उपशम का काल छोटा होने से किसी भी देव की वह पर्याप्त अवस्था मे वह द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नही पाया जाता है। क्योकि प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ मरण नही होना है तथा जिस द्वितीयोपशम सम्यक्त्व को मनुष्य पर्याय से लेकर जीव देवगति (सौधर्मादिक मे) उत्पन्न होता है उसमे (द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के) काल के समाप्त हो जाने से वह अपर्याप्त अवस्था मे नष्ट हो जाता है ॥ २७ ॥ २८ ॥

अविरतसम्यग्दृष्ट्याद्येषु चतुर्ष्वपि गुणेषु कस्मिश्चित् ।
वेदकदृष्टिस्त्रिकरण्यादिकषायान् विसयोज्य ॥ २९ ॥
निर्वृत्तियोग्ये क्षेत्रे, काले लिङ्गे भवे तथा वयसि ।
शुभ–लेश्या–त्रय वृद्धि कषाय–हानि च सविदधत् ॥ ३० ॥

क्षपकश्रेणीसदृश, प्रवेशकालान्तरैस्त्रिभि करणै ।

हत्वा दृङ्मोहत्रयमाप्नोति क्षायिकीं दृष्टिम् ॥ ३१ ॥

अविरत चौथे आदि चार गुणस्थानो मे से किसी भी गुणस्थान मे वेदक सम्यग्दृष्टि तीन करणों के द्वारा अनन्तानुबधी चौकडी का अप्रत्याख्यान मे विसयोजन (मिलाकर) सक्रान्ति (परिवर्तन मिलाने) रूप से करके निर्वाण के योग्य विदेहादिक रूप ढाई द्वीप सम्बन्धी क्षेत्र मे जहा श्रुत केवली या केवली हो वहा, योग्य तीसरे के अन्तिम मे या चौथे काल के भीतर अवसर्पिणी काल मे तथा उत्सर्पिणी के तीसरे तथा चौथे के प्रारम्भ मे, गृहस्थ या मुनिलिंग मे द्रव्य पुरुष रूप लिग के होने पर ही मनुष्य भव मे मनुष्य ही योग्य वय आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त के व्यतीत होने पर ही उत्तम सहनन वाला शुभ लेश्या पीत, पद्म और शुक्ल की वृद्धि तथा कषाय की हानि को सधारण (प्राप्त) करते हुए तथा क्षपक श्रेणी के सदृश प्रदेश काल के पूर्व मे तीन करणो से चौथे, पाचवे, छठे या सातवें गुणस्थान मे दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियो की क्षपण (क्षय) करके क्षायिक (सम्यक्त्व ७ के क्षय से) सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होता है। यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्व इन चारो गुणस्थानो मे प्राप्त हो जाता है तो भी किसी किसी के चौथे के क्षपणा के प्रारम्भ होने पर उसकी पूर्ति पूर्वबद्ध आयु वाली गति मे भी होती है। किन्तु पाचवे, छठे तथा सातवे गुणस्थान मे क्षपणा का प्रारभक, पूर्ति भी उसी मनुष्य भव मे ही करता है अथवा देव पर्याय मे भी उसकी पूर्ति सभव हैं अन्यत्र नही। तद्भव मोक्षगामी क्षपणा का प्रारम्भ करें तो वे पूर्ति भी उसी भव मे ही करते है ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

क्षायिकसम्यग्दर्शनमाप्तोक्तार्थेषु निश्चलात्मरुचि ।

वातैर्मन्दरगिरिवन्नचलति कुहेतुदृष्टान्त ॥ ३२ ॥

क्षायिक सम्यग्दर्शन आप्त के द्वारा कहे गए पदार्थो मे निश्चलात्मरुचि=निर्णय=विश्वास वाला होता है। जैसे कि पवन से मन्दरपर्वत चचल नही होता है ॥ ३२ ॥

उत्पद्यते हि वेदकदृष्टि स्वमरेषु कर्मभूमिनृषु ।
कृतकृत्यक्षायिकदृग् बद्धायुष्कचतुर्गतिषु ॥ ३३ ॥

षट्स्वध पृथ्वीषु ज्योतिर्वन-भवनजेषु च स्त्रीषु ।
विकलेन्द्रियजातिषु, सम्यग्दृष्टेर्न चोपत्ति ॥ ३४ ॥

बद्धायुष्कचतुष्कोऽप्युपैति सम्यक्त्वसमुदितभेदयुतम् ।
विरतिद्वितिय बद्ध स्वर्गायुष्यात्परं नैव ॥ ३५ ॥

वेदक सम्यग्दृष्टि सौधर्मादिको मे सुदेव होता है तथा वेदक सम्यग्दृष्टि देव कर्म भूमियो मे मनुष्य होता है। कर्म भूमियो मे अनित्य भोग भूमि की रचना के काल मे प्रथम दूसरे और तीसरे काल में सम्यक्त्व लेकर मनुष्य उत्पन्न हो सकता है किन्तु सम्यक्त्व सहित मनुष्य, मनुष्य मे कर्मभूमिज विदेह क्षेत्र या कर्म भूमि की रचना वाले भरत ऐरावत क्षेत्र मे मनुष्य नही होता है। कृत कृत वेदक (मिथ्यात्व क्षपक सम्यक्त्व प्रकृति वेदक) चारो गतियो मे पूर्व बद्धायुष्क होने से उत्पन्न होता है किन्तु वह भोगभूमिज होता है या प्रथम नरक तक मध्यम आयु वालो मे जा सकता है। या सौधर्मादिक मे उत्पन्न होता है। विकलेन्द्रियो मे या स्थावरो मे या पचेन्द्रिय समूर्छन, नपुसक या गर्भज, द्रव्य स्त्रियो मे और भाव स्त्रियो मे उत्पन्न नही होता है। जिसने देवायु से अन्य किसी आयु का सम्यक्त्व होने से पूर्व मे बन्ध कर लिया है वह देश विरति को धारण नही करता है ॥ ३३-३४-३५ ॥

पुद्गल परिवर्तार्धं, परतोव्यालीढवेदकोपशमो ।
वसत ससाराब्धो, क्षायिक दृष्टिर्भवचतुष्क ॥ ३६ ॥

यदि उपशम या वेदक सम्यक्त्व प्राप्त होकर छूट जावे तो मिथ्यात्व अवस्था मे अधिक से अधिक कुछ कुछ कम अर्धपुद्गल-परिवर्तन पर्यंत ही ससार समुद्र मे रहता है। किन्तु जो क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है

वह यदि भोग भूमिजो मे जन्म प्राप्त करता है तो चौथे भव मे देव से मनुष्य होकर अवश्य चरम शरीरी होता है। यदि वह देव और नरक मे उत्पन्न होता है तो तीसरे भव मे मनुष्य होकर अवश्य मुक्त होता है। कोई उसी भव मे, चरम शरीरी होने से, मोक्ष को प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

अथवा द्वेधा दशधा बहुधा सम्यक्त्वमूनमेतेन ।
ज्ञान चरित्र-तपो वं नालं ससारमुच्छेत्तुम् ॥३७॥

अथवा सम्यक्त्व, निसर्गज (अल्प परिश्रम से होने वाला) और अधिगमज (पर उपदेश रूप बडे परिश्रम से जन्य) के भेद से दो प्रकार का है या दश प्रकार का कहा गया है तथा वह बहुत प्रकार का कहा गया है। इस सम्यक्त्व के बिना ज्ञान चरित्र और तप ससार का उच्छेद करने मे समर्थ नही है। भले ही स्वर्ग के लिये समर्थ कारण ही क्यो न रह आवे, मोक्ष के लिये तो वे सर्वथा कारण रूप तब ही होते हैं जब सम्यक्त्व से सहित होते हैं अर्थात् सच्चे श्रद्धान को प्राप्त कर लिया है तो ज्ञान सच्चा हो जाता है तथा उस सम्यग्ज्ञान के प्राप्त हो जाने से समीचीन (सच्चे) तप और चरित्र को धारण करना नितात आवश्यक है। उक्त च--

पाप व्यसन सब त्याग दे-यदि सच्चा श्रद्धान ।
श्रुति मतिध्याति दृष्टि से-दिखता है भगवान ॥
वृक्षस्य यथा मूल, प्रासादस्य च यथा ह्यधिष्ठानम् ।
विज्ञानचरित्त-तपसा, तथाहि सम्यक्त्वमाधार ॥३८॥
दर्शन-नष्टो नष्टो, न तु नष्टो भवति चरणो नष्ट ।
दर्शनमपरित्यजता, परिपतन नास्ति ससारे ॥३९॥

त्रैलोक्यस्य च लाभाद्दर्शनलाभो भवेत्तरा श्रेष्ठ ।
लब्धमपि त्रैलोक्य, परिमितकाले यतश्च्यवते ॥४०॥

निर्वाणराज्यलक्ष्म्या सम्यक्त्वं कण्ठिकामत प्राहु ।
सम्यग्दर्शनमेव, निमित्तमनन्ताव्ययसुखस्य ॥४१॥

॥ इति सम्यग्दर्शन आराधना ॥

जैसे वृक्ष का मूल है तथा प्रासाद (महल) का आधार अधिष्ठान (नीव) है वैसे ज्ञान चरित्र और तप का आधार सम्यक्त्व है यह निश्चित है। दर्शन से जो भ्रष्ट है वह भ्रष्ट माना गया है जो चारित्र मे कुछ न्यून है वह नष्ट नही हुआ है यदि सच्चा श्रद्धान है। जिसके सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है वह ससार मे अत्यत निकृष्ट अवस्था को प्राप्त नही होता है तीन लोक के ऐश्वर्य से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ट है क्योकि लब्ध (प्राप्त) भी त्रैलोक्य का ऐश्वर्य परिमित काल मे नष्ट हो जाता है। निर्वाण रूपी राज्य लक्ष्मी के लिये सम्यक्त्व हार के समान है ऐसा आचार्य कहते हैं। सम्यग्दर्शन ही अनन्त अविनश्वर सुख का मूल कारण है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

इस प्रकार सम्यग्दर्शन आराधना समाप्त हुई ॥

सम्यग्ज्ञान आराधना

दर्शयति यत्पदार्थानन्तर्ज्योति प्रकाशवज्ज्ञानात् ।
पूर्वमनाकार, तच्चैतन्य दर्शन विन्द्यात् ॥४२॥

तच्चक्षुरादिदर्शनभेदात्प्रविकल्प्यमानमाप्नोति ।
चातुर्विध्यमनेकप्रभेदसंदोहसंयुक्तम ॥४३॥

छद्मस्थो के जो अवग्रह (मतिज्ञान) से पूव म तथा अवधिज्ञान से पूर्व मे जो पदार्थो का महा सत्तामात्र से उस विषय का निराकार अवलोकन होता है। वह अन्तर्ज्योति=आत्मावलोकन रूप चेतन्य छद्मस्थो का दर्शनोपयोग है ऐसा जानना चाहिये। वह चक्षु, अचक्षु, अवधि दर्शन के भेद स तीन प्रकार का है तथा जो केवलज्ञान के साथ निराकार आत्मावलोकन होता है वह केवल दर्शनोपयोग होता है इस प्रकार वह दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है। ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

चक्षुर्ज्ञानात्पूर्व प्रकाशरूपेण विषयसदर्शी ।
यच्चैतन्य प्रसरति तच्चक्षुर्दर्शन नाम ॥४४॥

शेषेन्द्रियावबोधात् पूर्व तद्विषयदर्शियज्ज्योति ।
निर्गच्छति तदचक्षुर्दर्शनसज्ञ स्वचैतन्य ॥४५॥

अवधिज्ञानात्पूर्व, रूपिपदार्थविभासियज्ज्योति ।
प्रविनिर्याति स्वस्मात्तन्नावधिदर्शन ॥४६॥

केवलबोधनविषयप्रकाशियज्ज्योतिरात्मनो नि सृतम ।
तत्केवलदर्शनमिति वदन्ति नि शेषतत्त्वविद ॥४७॥

दृक् पूर्व एव बोध कारणकार्यस्वदर्शनात् तयो ।
तदपि छद्मस्थानां क्रमोपयोगप्रवृत्ते स्यात् ॥४८॥
केवलदर्शनबोधौ, समस्तवस्तुप्रभासिनौ युगपत् ।
दिनकृत्प्रकाशतापवदावरणाभावतो नित्यम् ॥४९॥

चक्षु इन्द्रिय से अवग्रह ज्ञान होने से पूर्व में प्रकाश रूप से विषय का संदर्शी जो चेतन निराकार अवलोकन होता है वह निराकार स्वरूपावलोकन चक्षुदर्शनोपयोग है। शेष इन्द्रियो के द्वारा होने वाले अवग्रह ज्ञान से पूर्व मे जो तद् तद् विषयदर्शी जो ज्योतिरूप निराकार अवलोकन रूप सत् स्वरूप दर्शन होता है वह अचक्षुदर्शन नामक उपयोग है। अवधिज्ञान से पूर्व मे उसके विषय का निराकार अवलोकन करने वाला स्वरूपालोकन अवधिदर्शनोपयोग है। तथा जो केवलज्ञान के विषय को निराकार रूप से प्रकाशित करने वाला सत्ता अवलोकनरूप स्वरूपदर्शन है उसे सर्वज्ञ केवलदर्शन बतलाते हैं। छद्मस्थो के दर्शन पूर्वक अवग्रह ज्ञान और अवधि ज्ञान होते हैं अत उनके वे उपयोग क्रमवर्ति होते हैं। अर्थात् छद्मस्थों के व्यक्ति रूप से ज्ञान या दर्शनोपयोग मे से कोई एक उपयोग एक समय में एक जीव के रहता है। किन्तु जो केवलदर्शन और केवलज्ञान रूप उपयोग हैं वे समस्त वस्तु को जानने और अवलोकन करने वाले हैं और युगपत् रहते हैं जैसे सूर्य के प्रताप और प्रकाश साथ साथ रहते हैं वैसे ही केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण के अभाव हो जाने से दोनों उपयोग सदा व्यक्त रूप से बने रहते हैं वे सादि अनन्त हैं ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

चतुरिन्द्रियादिनष्टकषायान्तं प्रथमदर्शनं विन्द्यात् ।
एकेन्द्रियादिनष्टकषायान्तं स्याद् द्वितीयं च ॥५०॥

चक्षुदर्शन चौइन्द्रिय से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवो मे पाया

जाता है तथा जो अचक्षु दर्शन है वह एकेन्द्रिय से लेकर बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है । किन्तु जो केवलदर्शन है वह सर्वज्ञ के पाया जाता है । ऐसा परिशिष्ट न्याय से जाना जाता है ॥ ५० ॥

अविरतसम्यग्दृष्ट्या क्षीणकषायमवधिदर्शनम् ।
केवलिनो सिद्धाना चतुर्थक स्यादिति प्राहु ॥५१॥

प्रथम-तृतीये काल सादि सान्तो द्वितीयकेऽनादि ।
सान्तोऽनन्तश्च भवेच्चतुर्थके साद्यनन्त स्यात् ॥५२॥

चौथे गुणस्थान मे क्षीणकषाय पर्यन्त अवधि दर्शन का क्षयोपशम पाया जाता है केवली भगवान् सकल जिनो के और सिद्धो के केवल दर्शन होता है ऐसा आचार्य कहते हैं । चक्षु दर्शन और अवधि दर्शन का काल एक जीव की अपेक्षा सादि सान्त है अचक्षु दशन अनादि से नित्य निगोदिया जीवो मे पाया जाता है किसी दो इन्द्रियादिक के अचक्षु दर्शन की अपेक्षा से वह सान्त भी होता है तथा नित्य-निगोदिया के अनन्त भी होता है । किन्तु केवलदर्शन एक जीव की अपेक्षा से व्यक्ति के सादि अनन्त होता है ॥ ५१ ॥ ॥ ५२ ॥

जानाति यत्पदार्थान् साकार निश्चयेन तज्ज्ञानम् ।
ज्ञायन्ते वा येन ज्ञप्तिर्वातत्प्रमाणाख्यम् ॥५३॥

जो पदार्थो को सशय, विपर्यय अनध्यवसाय रहित निर्णय रूप से जानता है वह सम्यग्ज्ञान है अथवा जिसके द्वारा समारोप रहित निर्णय किया जाता है वह प्रमाण है अथवा जो सचाई से निर्णय रूप है वह प्रमाण नाम का ज्ञान है "ज्ञप्तिस्तु अभ्यस्तदशाया स्वत अनभ्यस्तदशायां परत ॥ ५३ ॥"

तद् वं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलाख्यभेदेन ।
भिन्न पञ्चविकल्प, भवतीति वदन्ति विद्वांस ॥५४॥

विद्वान लोग उसे मति, श्रुत, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान के भेद से पाच विकल्प वाला कहते हैं ॥ ५४ ॥

इन्द्रियमनोरभिमुखनियमितरूपेण वस्तुविज्ञानम् ।
भवति मतिज्ञान तत् षट्त्रिंशत् भेदयुतम् ॥५५॥

जो स्थूल, वर्तमान और व्यवधान (अन्तर) रहित होने से अभिमुख तथा अपने अपने स्पर्शन आदिक पाच विषयों तथा मन के दृष्ट, श्रुत और अनुभूत (परिचित) विषय मे नियमित होने से अभिमुख (सम्मुख) नियमित विषय को ग्रहण करने वाला वस्तु विज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। वह तीन सो छत्तीस भेद से सहित है। उस विषय मे आप्त के वचन सकेतादिक से होने वाला तात्पर्यज्ञान श्रुतज्ञान है ॥ ५५ ॥

इन्द्रियमनसां षण्णां प्रत्येकमवग्रहादयो भेदा ।
चत्वारस्तत्राद्यो द्विविधोऽर्थव्यञ्जनविकल्पात् ॥५६॥

पाच इन्द्रिय और मन इन छओ मे से प्रत्येक के अवग्रहादिक चार भेद होते हैं उन चारो मे जो प्रथम अवग्रह (अर्थाकार धी रूप) नाम का ज्ञान है वह अर्थावग्रह और व्यजनावग्रह के भेद से दो प्रकार का होता है ॥ ५६ ॥

चक्षुर्मनसो नास्ति व्यञ्जनभेद पृथक पृथक तेषाम् ।
बहु बहुविधादिभेदाद् द्वादशनिर्दशितास्तज्ज्ञै. ॥५७॥

किन्तु नेत्र और मन से व्यञ्जन अवग्रह (जिसके बाद ईहा न हो सके ऐसा अव्यक्त चक्षु और मन के बिना शेष इन्द्रियो से होने वाला ज्ञान) नही होता है। अवग्रह, ईहा, आवाय, और धारणा मे से प्रत्येक के बारह बारह भेद होते हैं। वे बहु, बहुविध इत्यादिक भेद रूप से उस विषय के जानकारो द्वारा दिखाये गये हैं।

अथवा द्वित्रिचतु पञ्चादि विकल्पै विकल्प्यमानं तत् ।

सख्याताऽसंख्यातप्रभेदसघातमाप्नोति ॥५८॥

अथवा वह दो, तीन, चार, पाच आदिक भेदो से विभाजित सख्यात तथा असख्यात प्रभेद समूह वाला होता है । ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष की अपेक्षा से दो भेद होते है । इन्द्रिय, अनिद्रिय और अतीन्द्रिय के भेद से ज्ञान तीन प्रकार का होता है । साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है अवधि, मन पर्यय, केवलज्ञान, परमार्थ प्रत्यक्ष है तथा श्रुतज्ञान परोक्ष है। तथा उसके दो भेद स्वसवेदी इवत् परोक्ष और परोक्ष रूपमे करने पर ज्ञान पाच प्रकार का होता है । इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ज्ञान के भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और परोक्ष इस प्रकार भेद करने पर छह आदिक प्रभेद हो जाते हैं । मतिज्ञान के भी इन्द्रियज्ञान, अनिन्द्रियज्ञान इत्यादिक रूप मे सख्यात और असख्यात भेद भी हो सकते हैं ॥ ५८ ॥

निष्पतदन्तज्योतिर्बलमतिविभवप्रभावितादर्थात् ।

अर्थान्तरविज्ञान श्रुत-विज्ञानं विजानीयात् ॥५९॥

पर्यायाक्षरपदसघातादि विकल्पभिद्यमानं तत् ।

विंशति मेव भवतीत्याहुर्विश्वार्थतत्त्वज्ञा ॥६०॥

यत्तु जघन्य ज्ञान सूक्ष्मैकेन्द्रियजलब्ध्यपर्याप्ते ।

तल्लब्ध्यक्षरसंज्ञ, पर्यायाख्य निरावरणम् ॥६१॥

नित्युदघाटित निरावरण नामक जघन्य ज्ञान सबधी क्षयोपशम होता है तथा वह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का क्षयोपशम एक समय मात्र रह कर दूसरे समय मे बढ जाता है इस प्रकार वह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का क्षयोपशम विकसित भी होता रहता है तथा वह जीव जो सैनी हो गया है उमने मतिज्ञान के विभव (सामर्थ्य) से जो जाना है उससे तात्पर्य को जानने

वाला उपयोगात्मक श्रुत विज्ञान होता है ऐसा जानना चाहिये । मतिज्ञानोपयोग तो एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक होता है किन्तु श्रुतज्ञानोपयोग सैनी के ही होता है । तथा मति श्रुतज्ञान का जघन्य क्षयोपशम अन्तर्मुहूर्त मे ६६३३६ जन्म धारण करने वाले लब्ध पर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय मे होता है । पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, सघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति (भावश्रुत का भेद विशेष) प्रतिपत्तिसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, (समुदाय) वस्तु वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये भाव श्रुतज्ञान के बीस भेद होते हैं । इनमे से पर्याय नाम का भाव श्रुत जघन्य रूप से होता है उसके तारतम्य भेद दूसरे समय से बहुत प्रकार से होते हैं ऐसा सर्वज्ञ कहते हैं ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

तस्योपरिषड्वृद्धिषु पर्यायसमासनामयुक्तानि ।
ज्ञानानि संभवन्ति हि संख्यातीतानि तेष्वन्त्यात् ॥६२॥

ज्ञानादनन्तगुणविज्ञान, कैवल्यबोध संज्ञेय ।
भागप्रमाणमक्षरविज्ञानं, कथ्यतेऽर्हद्भि ॥६३॥

उस पर्याय ज्ञान के ऊपर षड्गुणी (गुणाकार रूप) वृद्धियो के होने पर पर्यायसमास नाम का भाव श्रुत ज्ञान होता है उनमे अन्तिम से असख्यात और होते है । तथा उस पूर्ण भेद वाले पूर्वसमास नामक (पूर्णाक्षर) भावश्रुत से अनन्त गुणविज्ञान कैवल्य रूप है ऐसा जानना चाहिये । तथा उसके अनतवे भाग प्रमाण भावश्रुत होता है द्रव्यश्रुत भी उसके अनन्तवे भाग प्रमाण है ऐसा प्रमाणाक्षर विज्ञान के विषय मे अर्हद् भगवानो के द्वारा कहा गया है ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

एकाक्षरादिवृद्धया, वृद्धास्तस्योपरि क्रमेणंते ।
ह्यक्षरसमासबोधा सख्येया सभवन्त्येवम् ॥६४॥

सख्येयाक्षरजनित, पदविज्ञान वदन्ति विश्वज्ञा। ।
प्रागवत्तवुपरिवृद्धा, बोधाःस्यु पदसमासाख्या. ॥६५॥
सघाताविज्ञानान्यापूर्वसमासमुक्तया वृद्धया ।
ज्ञेयान्येव भव्यै सर्वज्ञाज्ञाविधानेन ॥६६॥

पर्यायसमास के ऊपर एकाक्षर आदिक की वृद्धि से अक्षर समास को जीवकाण्ड के अनुसार जानना चाहिये । अक्षरसमास के सख्यात भेद होते हैं । सख्यात अक्षरो से जनित भाव पद विज्ञान होता है ऐसा विज्ञ कहते हैं पूर्ववत् उसके ऊपर वृद्धि होने पर पद समास ज्ञान होते हैं । वैसे ही सघात, समास आदि ज्ञान उस वृद्धि के होने पर पूर्वसमास तक होते है इस प्रकार भावश्रुत ज्ञान के भेदो को मर्वज्ञ आज्ञा के विधान के अनुसार प्राकृत पचसग्रह से भव्यो के द्वारा विदित करना चाहिये ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अक्षरजमनक्षरज, चेति द्विविध समासतस्तत्स्यात् ।
द्विविध चाक्षरसभवमङ्गनङ्गप्रभेदेन ॥६७॥
आचाराविविकल्पाद्, द्वादशभेदात्मक भवेत्प्रथमम् ।
सामायिकादिभेदादितरच्च चतुर्दश-विकल्पम् ॥६८॥

वह श्रुत ज्ञान अक्षर से होने वाला और सकेतादिक से होने वाला दो भदो से सहित है । जो अक्षर से होने वाला द्रव्य श्रुत है वह अङ्ग और अनङ्ग (अग बाह्य) रूप से दो प्रभेद वाला है । आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, आदि प्रभेदो से अङ्ग, श्रुतज्ञान के बारह भेद है तथा अङ्ग बाह्य के सामायिक, प्रतिक्रमण, आदिक के भेद से १४ प्रकार है ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

मतिश्रुतके ज्ञाने सवृशेते सर्वदाप्यविच्छेदात् ।
तद् द्वितयमपि परोक्ष, मतिज व्यवहारतोऽध्यक्षम् ॥६९॥

मति तथा श्रुत ये दोनो ज्ञान साथ साथ सर्वथा छद्मस्थो के विच्छेद रहित पाये जाते हैं ये दोनो ही ज्ञान सैद्धान्तिक दृष्टि से इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायता से होने के कारण परोक्ष हैं। किन्तु लोक व्यवहार मे मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये वर्तमान सम्बन्धी चार भेद व्यवहार से प्रत्यक्ष माने जाते हैं। स्वसवेदी ज्ञान की अपेक्षा से न्याय और अध्यात्म की अपेक्षा से इषत् परोक्ष या स्वसवेदी परोक्ष रूप से होने वाले मति तथा श्रुतज्ञान भी साव्यवहारिक प्रत्यक्ष मे ही सम्मिलित होते हैं। भाव-श्रुत ज्ञानोपयोग मन के होने पर भाव मन से ही होता है। कहा भी है— 'श्रुतमनिन्द्रियस्य'। श्रुतज्ञान मन से ही होता है। तथा श्रुत ज्ञान रूप उपयोग मतिज्ञान पूर्वक, होता है। विशेष जानकारी के लिये सर्वार्थ सिद्धि को देखना चाहिये श्लोक वार्तिक भी इस विषय मे विशेषत पठनीय है। ॥ ६९ ॥

रूपी द्रव्यनिबद्धं, देशप्रत्यक्षमवधिविज्ञानम्।
देशावधि परमावधि-सर्वावधिभेदतस्त्रिविधम् ॥७०॥

देशावधिविज्ञान, भवगुणकारणतया द्विधा भवति।
तत्रैकैक त्रिविध जघन्यमध्यमोत्तमविकल्पात् ॥७१॥

द्रव्य क्षेत्र कालं भावं, च प्रतिजघन्य मध्यपरम।
मध्यमसंख्यातविधं, शेषं द्वितय तदेकैकम् ॥७२॥

गुणकारणजति यंड्मर्त्येषु विकल्पतस्तु षड्भेदम।
भवकारणज नारक देवेषु बहुप्रभेद तत् ॥७३॥

प्रादेशिक तु, गोण्य भवकारणमविकलात्मदेशभवम्।
प्रतिपातिलोकमात्रं, ह्यप्रतिपातितु ततोऽप्यधिकम् ॥७४॥
गुणकारणस्यनाभेरूपरि भवन्ति हि शुभानि चिह्नानि।
श्रीवृक्षादीनितत, नेत्रेणेव स्फुट पश्येत् ॥७५॥

उत्पद्यतेऽवमिथ्यात्वगुणजस्य विभङ्गसज्ञको भन्तो ॥
नाभेरधस्थबरं काकोलूकाद्यशुभचिह्नात् ॥७५॥

देशप्रत्यक्ष अवधिज्ञान का विषय सबध रूपी द्रव्य से निबद्ध है वह देशावधि परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का है। देशावधि विज्ञान भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय के भेद से दो प्रकार का होता है तथा उन दोनो मे से प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जघन्य, मध्यम और उत्तम भेद वाला होता है। मध्यम के सख्यात भेद होते हैं तथा जघन्य और उत्कृष्ट एक एक हैं। गुण प्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्यों में होता है इतना विशेष है कि छह भेद वाला यथासभव है। अवस्थित अनवस्थित वर्धमान, हीयमान, अनुगामी और अननुगामी ये छह भेद मनुष्य के अवधिज्ञान मे घटित होते हैं। यथायोग्य ये तिर्यंच मे भी घटित होते हैं। इस विषय मे विशेष राजवार्तिक से जानना चाहिये। भवप्रत्यय अवधिज्ञान नारक और देवो मे होता है वह बहुत भेद वाला होता है। इतना विशेष है कि गुणप्रत्यय प्रादेशिक होता है तथा भवप्रत्यय अविकल आत्म प्रदेशों से होने वाला होना है। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के नाभि के ऊपर शुभ श्रीवृक्षादिक चिह्न होते हैं उन चिह्नो से नेत्र की भांति स्पष्ट रूप से वह देखता है। मिथ्यात्व गुणस्थान वाले जीव के विभङ्गावधि ज्ञान होता है तो वह नाभि के नीचे के भाग मे मेंढक, काक, उल्लू आदिक अशुभ चिह्न से होता है तथा यह पर्याय अवस्था मे ही रहता है ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

परमावधिविज्ञान चरमशरीरस्य संयतस्य भवेत्।
पूर्ववदेतत् त्रिविधं द्रव्यक्षेत्राद्यमाश्रित्य ॥७६॥

उत्कृष्टजघन्यद्वयमेकैकविकल्पमेवजानीयात।
मध्यमजाता भेदा, भवन्त्यसख्येय-सघातमाः ॥७७॥

परमावधिज्ञान चरम शरीर वाले सयत (सयमी) के होता है तथा सर्वावधिज्ञान भी चरम शरीर के ही होता है तथा पूर्व की भाति उत्तम मध्यम तथा जघन्य भेद वाला तीन प्रकार का जो अवधि ज्ञान होता है वह द्रव्य क्षेत्र काल भावादिक के आश्रय से होता है तथा उनमे उत्कृष्ट और जघन्य तो एक एक होता है तथा मध्यम के असख्य भेद समूह होते हैं। ७६-७७ ॥

सर्वावधिविज्ञानं, चिरमदेहस्य सयतस्यैव।
प्रादुर्भवति सज्ञानात्यणुमुचितक्षेत्रकालाद्यैः ॥७८॥

सर्वावधिज्ञान चरम देह वाले सयत के ही होता है तथा वह उचित क्षेत्र कालादिक के साथ जो पुद्गल परमाणु है उसको जानता है। इस विषय में महाबंध का प्रथम भाग अवश्य पढ़ने योग्य है ॥

आद्यं ज्ञानत्रयमुदितं मिथ्यात्वकर्मणो ह्युदयात्।
विपरीतरूपमाप्तं, मत्यज्ञानादिनामस्यात् ॥७९॥
अर्थानां याथात्म्याग्रहणात्संज्ञानमेव चाज्ञानम्।
युक्ताचाराभावात् पुत्रस्यापुत्रसज्ञावत् ॥८०॥

आदि के तीन ज्ञान मिथ्यात्व कर्म के उदय से विपरीत रूप को प्राप्त होने के कारण कुज्ञान या कुमति-कुश्रुत और कुअवधि विभङ्गावधि नाम को धारण करने वाले होते हैं। पदार्थों के याथात्म्य को ग्रहण नही करने से सुज्ञान ही कुज्ञान रूप मे परिणत हो जाता है। जैसे युक्ताचार के अभाव होने से पुत्र की अपुत्र (कुपुत्र) सज्ञा हो जाती है ॥ ७९ ॥ ८० ॥

अन्य मनोगतविषयः स्वचेतसा सविलोक्यते येन।
तन्मोपर्ययबोधनमृजुविपुलविकल्पतो द्विविधम् ॥८१॥

जिस अपने ज्ञान के द्वारा अन्य के मन से जाना गया रूपी विषय जाना

जाता है-सम्यक् प्रकार से देखा जाता है वह मनःपर्यय ज्ञान है वह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है।

ऋजुधीपर्ययबोधनमुत्तम-मध्यमजघन्यतस्त्रिविधम् ।

मध्यमनेकविकल्पं श्रेष्ठजघन्यद्वयमेवम् ॥८२॥

ऋजुमति मन पर्यय ज्ञान उत्तम मध्यम और जघन्य भेद से तीन प्रकार का है। मध्यम के अनेक भेद हैं या मध्यम अनेक विकल्प वाला है तथा जघन्य और उत्कृष्ट एक एक भेद रूप है ॥ ८२ ॥

विपुलमन पर्ययमपि जघन्यमध्यमोत्तमाख्यया त्रिविधम् ।

निर्भेदमुत्तमाधममनेकभेदात्मकं मध्यम् ॥८३॥

विपुलमति मन पर्यय भी जघन्य मध्यम तथा उत्तम के भेद से तीन प्रकार का है उत्तम तथा जघन्य एक एक भेद रूप ही हैं किन्तु मध्यम के अनेक भेद होते हैं ॥८३॥

एतानि ज्ञानानि स्वावरणानां क्षयोपशमजानि ।

केवलमशेषवस्तु स्वरूपसंवेदि तत्क्षयजम् ॥८४॥

सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्रहणात्प्रमाणमेतद्धि ।

नय-एकांशग्रहणात् दुर्नयइतरांशनिर्लोपात् ॥८५॥

ये ज्ञान अपने अपने आवरण के क्षयोपशम के अनुसार होते हैं। अशेष वस्तु को सम्यक् प्रकार से जानने वाला केवलज्ञान अपने आवरण के क्षय से प्रकट होता है। सामान्य और विशेषात्मक वस्तु को ग्रहण करने से यह ज्ञान प्रमाण रूप होता है तथा प्रमाणांश रूप नय वस्तु के एक अंश को गौण मुख्य रूप से ग्रहण करता है तथा दुर्नय इतर अंश का निर्लोप करने से होता है ॥८४॥८५॥

॥ इस प्रकार सम्यग्ज्ञान की आराधना सामाप्त हुई ॥

सम्यक् चारित्र आराधना

प्राणीन्द्रियेषु षड्विध भेदेषु हि सयमश्चरित्र तु ।
सामायिकादिभेदात्पञ्चविध तद्विजानीयात् ॥८६॥

प्राणी और इन्द्रियो के छह छह भेदो के विषय मे अशुभ प्रवृत्ति की निवृत्ति रूप चारित्र है। वह सामायिक आदि भेद से पाच प्रकार का जानना चाहिए। छह काय के जीवो की रक्षा करना प्राणी सयम है तथा पाच इन्द्रिय और मन की अशुभ प्रवृत्ति को छोडना इन्द्रिय सयम है ॥८६॥

सावद्ययोगविरति सर्वव्रतसमितिगुप्तिधर्माद्यं ।
भेदैरहितापि युता सामायिकसयमोनाम ॥८७॥

सर्व व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म आदि का भेदो से रहित भी सावद्य योग विरति सहित सामायिक नामक सयम होता है ॥८७॥

व्रत-समिति-गुप्तिसयमशीलगुणादिकविकल्पसयुक्ताम् ।
विरति वदन्ति सन्तश्छेदोस्थापनाचरितम् ॥८८॥

व्रत, समिति, गुप्ति, सयम, शील गुण आदिक भेद से सहित विरति को सन्त पुरुष छेदोपस्थापना चारित्र कहते है। यह भेद प्रभेदो को जान कर बारीकी से पालन किया जाता है अत यह सामायिक सयम से अधिक विशुद्ध होता है ॥८८॥

त्रिविधविकल्प-समन्वितसूक्ष्मासख्येयलोकपरिणामैः ।
सदृशे ते चारित्रे व्यतिरेका भावतो नित्यम् ॥८९॥

उत्तम, मध्यम तथा जन्घय के भेद से सहित अपहृत (अनुत्तम सहनन

वालो का सयम) सयम रूप सामायिक और छेदोपस्थापना असख्यात लोक परिणामो से सदृश हैं। वे दोनो चारित्र नित्य व्यतिरेक (भिन्नता) रहित हैं। तो भी विशुद्धि में तारतम्य अवश्य होता है। देखो सर्वार्थसिद्धि आदिक तत्वार्थ सूत्र की टीकाए। सामायिक चारित्र रूप अपहृत सयम से छेदोपस्थापना रूप अपहृत सयम अधिक विशुद्धि रखता है ॥८९॥

त्रिंशद्वर्षाद्योगी, वर्षपृथक्त्व च तीर्थंकरमूले ।
प्रत्याख्यानमधीत्य च गव्यूति द्वितयगो दिवसे ॥९०॥

जो तीस वर्ष तक सुख पूर्वक गृहस्थ अवस्था मे व्यतीत करके वर्ष पृथक्त्व तक तीर्थंकर के पादमूल मे ९वें प्रत्याख्यान पूर्व का (वर्ष पृथक्त्व तक) अध्ययन करके परिहार विशुद्धि सयम प्राप्त करता है वह प्रतिदिन, दिन मे तीन सध्याओ को छोड कर ४ मील तक गमन करता है ॥९०॥

सयमविनाशभीरु लंभते, परिहारसंयम शुद्धम् ।
त्रिविधास्तत्परिणामा, अजघन्यसख्यातसख्यागाः ॥९१॥

परिहारर्द्धिसमेतः षड् जीवनिकाय-संकुले विचरन् ।
पयसेवपद्मपत्र, न लिप्यते पापनिवहेन ॥९२॥

जो सयम के विनाश होने से भीरु (डरता) है वह परिहार विशुद्धि सयम को प्राप्त करता है उसके उत्तम मध्यम तथा जघन्य परिणाम असख्यात सख्या वाले स्थान को प्राप्त होते हैं किन्तु जघन्यादिक से उत्तम अनतगुण विशुद्धि वाला होता है तथा जघन्य भी परिहारविशुद्धि चारित्र छेदोस्थापना से अनत गुणी अधिक विशुद्धि वाला होता है। परिहार ऋद्धि से सहित मुनि षट्काय के जीव समूह से सकुल (व्याप्त) स्थान मे विहार करते हुए भी पाप सपूह से लिप्त नही होता है जैसे जल से कमल पत्र लिप्त नही होता है ॥९१॥९२।

सूक्ष्मी-कृते तु लोभकषाये श्रेण्द्वये निवृत्तिमयैः ॥
परिणामैर्भवति यते सूक्ष्मचरित्र गुण-पवित्रम् ॥९३॥

निवृत्तिमय परिणामो के द्वारा लोभ कषाय को दो श्रेणियो मे सूक्ष्म कर देने पर यति के सूक्ष्म चारित्र नामक गुण से पवित्र सूक्ष्मसापराय नामक चारित्र होता है ॥ ९३ ॥

मोहानुदयादेकाकारमनो गुणचतुष्टये नित्यम् ॥
उपशांत-कषायाद्ये, भवति चरित्रं यथाख्यातम् ॥९४॥

मोह के उदय के न होने के कारण ग्यारहवे, बारहवें तथा चौदहवें गुणस्थानो मे यथाख्यात रहता है तथा उपशान्त कषाय और क्षीण मोह वाले दोनो गुणस्थानो में यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है ॥९४॥

आद्ये चरिते स्यातां, प्रमत्तमुख्येषु वै गुणेषु चतुर्षु ।
परिहारर्द्धिगुणयो र्द्वयो प्रमत्ताद्ययोरेव ॥९५॥

आद्य चरित्रद्वितयं, ह्युपशममिश्रक्षयैर्भवेन्मध्यम् ।
क्षायोपशमिकमन्त्यं, चोपशमक्षयभवं द्वितयम् ॥९६॥

सामायिक और छेदोपस्थापना ये दो चारित्र छठे से नौवें गुणस्थान तक चार गुणस्थानो मे रहते हैं किन्तु परिहार विशुद्धि छठे और सातवे गुण-स्थान वाले के ही होता है । आदि के दो चारित्र तीनो से होते हैं । परिहार विशुद्धि क्षायोपशमिक है तथा अन्त का यथाख्यात उपशम और क्षय से होने वाला है । आदि के दो क्षायोपशमिक चारित्र हैं किन्तु उपशम श्रेणी मे आंशिक औपशमिक तथा क्षपक श्रेणी मे आंशिक क्षायिक कहलाता है । ग्यारहवें का चारित्र उपशान्त मोह से, तथा बारहवें आदिक का क्षीणमोह से होता है ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

क्षायोपशमिकमन्यद् देशचारित्रं तु पञ्चमे तु गुणे ।
नानापरिणामे गुणचतुष्टयेऽविरतिकौदयिकं ॥९७॥

किन्तु जो पांचवें गुणस्थान मे देश चारित्र होता है वह क्षायोपशमिक होता है तथा प्रारम्भ के चार गुणस्थान मे नाना परिणाम पाये जाते है उनमे औदयिक (उदय से होने वाला) अविरति (अविरक्तता) पाई जाती ॥ अर्थात् अविरत सम्बन्धी औदयिक भाव पाया जाता है ॥ ९७ ॥

आद्येषु त्रिषु चरितेष्वपर समय परोभवेत्काल ।
देशोनपूर्वकोटीप्रतीश्य भृशमेकजीव तु ॥९८॥

आदि के तीन समयो का जघन्यकाल एक समय है तथा उत्कृष्ट काल एक जीव की अपेक्षा मे कुछ कम पूर्व कोटी प्रमाण होता है ॥ ९८ ॥

अन्तर्मुहूर्तसमयो परावरौ सूक्ष्मसापरायाख्ये ।
देशोनपूर्वकोटि. समयश्चविरागचारित्रे ॥९९॥

सूक्ष्मसापराय का जघन्य काल एक समय है तथा उत्कृष्ट काल अन्तमुंहूर्त है तथा यथाख्यात रूप वीतराग चारित्र का जघन्य काल एक समय है तथा उत्कृष्ट काल कोटि पूर्व से कुछ कम होता है ॥ ९९ ॥

अन्तर्मुहूर्तमपर देशचरित्रे वदन्ति काल हि ।
देशो न पूर्वकोटीमुत्कृष्ट विश्वतत्वज्ञा ॥१००॥

देश चारित्र का जघन्य काल एक अन्तर्मुहूर्त होता है किन्तु उत्कृष्ट काल एक पूर्व कोटि से कुछ कम है ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं ॥ १०० ॥

अन्तर्मुहूर्तभङ्गत्रितयो हीनोत्तमावविरतौ तु ।
नाना जीवापेक्षा सर्वाद्धा सूक्ष्मरहितेषु ॥१०१॥

किन्तु अविरत मे प्रथम तीसरे और चौथे का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है तथा उत्कृष्ट काल सूक्ष्म रहितों मे भी प्रथम गुणस्थान नाना जीवो की अपेक्षा से सदा पाया जाता है और चौथा गुणस्थान नाना जीवो की अपेक्षा से संनी मे सदा पाया जाता है ॥ १०१ ॥

॥ इस प्रकार चारित्राराधना समाप्त हुई ॥

इन्द्रिय–मनसोर्दर्प प्रणाशक वर्तन तपोनाम ।
बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्विविधं तत्प्राहुरार्षज्ञा ॥१०२॥

इन्द्रिय और मन के दर्प (महराग) रूप विकार को नष्ट करने वाला इच्छा के निरोध रूप (रोकने रूप) जो वर्तन (रहना) है वह तप के नाम से प्रसिद्ध है। उसे आर्ष (आगम) के वेत्ता ऋषि बाह्य और अभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का बतलाते हैं ॥ १०२ ॥

बाह्यं षडात्मकं स्यादनशनकादीनि तदभिधानानि ।
साकांक्षमनाकांक्षं चेत्यनशनमभिमतं द्वेधा ॥१०३॥

बाह्य तप छह प्रकार का होता है तथा अनगन (एक भुक्ति आदिक) अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्तशय्यासन, और काय क्लेश ये बाह्य तप के नाम है। अनशन, साकांक्ष और अनाकांक्ष के भेद से दो प्रकार का माना गया है। जो सकृत (एक बार दिन मे) भुक्ति, चतुर्थ भक्तादि त्याग रूप से अवधृत (नियत) काल तक द्रव्य क्षेत्रादिक के वश से किया जाता है तथा जो आजन्म के लिए सन्यास के अन्त मे अनवधृत काल तक किया जाता है वह अनाकांक्ष नामक अनशन है। "तदनशन द्वेधा तिष्ठते, कुतोऽवघृत अनवघृत कालभेदात्। तत्रावघृतकाल सकृत भोजन चतुर्थभक्तादि। अनवघृतकालमादेहो परमात् ॥ पृ० ३४२ देखो राजवार्तिक अ. ९ ॥ १०३ ॥

द्रव्यक्षेत्रादिवशात् साकांक्षमनेकभेदसंयुक्तम् ।
त्रिविधमनाकांक्षमपि प्रायोपगमादिभेदेन ॥१०४॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव के अनुसार शक्ति के योग्य त्याग तप करना चाहिए ऐसा तपरूप अनशन साकाक्ष अल्पकाल के लिए होता है उस के सकृत भुक्ति, चतुर्थ भक्त त्यागादिक के भेद से अनेक प्रकार हैं। तथा अनाकाक्ष नाम का अनशन शरीर के छूटने तक सन्यास के अन्त समय में किया जाता है वह भक्तप्रत्याख्यान, इगिनी, और प्रायोपगम के भेद से तीन प्रकार का है। जिस भक्त प्रत्याख्यान अनशन के करने पर अपनी सहायता आप भी करता है तथा दूसरे से भी सहायता ली जाती है तथा इगिनी में अपनी सहायता आप करता है दूसरे से वैय्यावृत्ति नही करवाता है तथा प्रायोपगमन (प्रायोवेशन) उत्तम सहनन वाले के होते हैं ॥ १०४ ॥ इस विषय मे भगवती आराधना को देखना चाहिए।

स्वपरव्यापृत्तिरहितं मरणं प्रथमं द्वितीयमात्मभवम् ।
व्यापारयुत मान्य स्वपरव्यापारसंयुक्तम् ॥१०५॥

जो प्रायोपगमन सन्यास रूप से अनाकाक्ष (इच्छा रहित आकाक्ष) अनशन को धारण करता है वह अपनी सहायता रूप बाह्य क्रिया को नहीं करता है और न दूसरे से वैय्यावृत्ति रूप व्यापार कराता है तथा इगिनीवाला अपनी वैय्यावृत्ति रूप व्यापार करता है दूसरे से वह वैय्यावृत्ति रूप व्यापार नही कराता है। तथा भक्त प्रत्याख्यान वाला अपनी क्रिया रूप बाह्य व्यापार को आप भी करता है तथा उठने बैठने आदिक मे दूसरे की वैय्यावृत्ति रूप व्यापार की सहायता से सहित होता है ॥ १०५ ॥

यत्साम्यशन तत्स्यादवमोदर्यंतप सबहुभेदम् ।
रस-रहितौदन -भुक्तिर्नाना भेदो रसत्याग ॥१०६॥

जो अर्द्ध भुक्ति आदिक है वह अवमोदर्य तप सुबहु भेद वाला है अर्थात् रस रहित औदन (भात) की भुक्ति आदिक नाना भेद वाला रस त्याग नाम का तप है॥ १०६ ॥

भिक्षा समुत्थकांक्षा, रोधो नानार्थ वृत्तिपरिसंख्या ।
योगैरनेकभेदैः कायक्लेशोऽङ्गसंतपनम ॥१०७॥

भिक्षा के विषय मे उत्पन्न होने वाली कांक्षा (इच्छा) के रोकने के लिये जो नाना पदार्थों की वृत्ति रूप-से प्रतिज्ञा रूप से परिगणना की जाती है वह वृत्तिपरिसख्या नाम का तप है। आतापन आदि का त्रिकाल योगो के भेदों से काय को कृश करके सम्यक् प्रकार से इच्छा का रोध करते हुए शांति पूर्वक तपने रूप कायक्लेश नाम का तप है ॥ १०७ ॥

स्त्रीपश्वादिविवर्जितदेशे, शुद्धे निवसनमध्ययनं ।
ध्यानादि विवृद्ध्यर्थं विविक्तशयनासनं षष्ठम् ॥१०८॥

स्त्री पशु आदि से रहित शुद्ध देश मे निवास करते हुए ध्यान और अध्ययन आदिक की वृद्धि के लिये विविक्तशयनासन छठा बाह्य तप है।१०८।

बाह्यजनज्ञातत्वात् बाह्येन्द्रियदर्पनाशकरणाच्च ।
मार्गप्रभावनाकरमेतद्, बाह्यं तपो नाम ॥१०९॥

बाह्य जनो से ज्ञात होने से तथा बाह्य इन्द्रियो के दर्प (गर्व) के नाश करने से मार्ग की प्रभावना करने वाला यह बाह्य तप है ॥ १०९ ॥

आभ्यन्तरं च षोढा, प्रायश्चित्तादि भेदतो भवति ।
दश पञ्चदश च पञ्च च चत्वारो द्वौ च तद् भेदा ॥११०॥

आभ्यतर तप प्रायश्चित्तादिक के भेद से छह प्रकार का है। तथा प्राय-

श्चित्त नामक तप के दश भेद है। विनय नामक तप के पाच भेद हैं वैय्यावृत्य के दश भेद हैं, स्वाध्याय के पाच भेद हैं ध्यान के चार भेद हैं तथा व्युत्सर्ग के दो भेद हैं ॥ ११० ॥

कृत-दोषस्य निवृत्ति प्रायश्चित्तं वदंति सकलविद ।
आलोचनादयस्तद् भेदा दश सम्यगवगम्या ॥१११॥

किये गए दोष की निवृत्ति को सर्वज्ञ प्रायश्चित कहते हैं। उसके आलोचनादिक दश भेद सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए ॥ १११ ॥

त्रिकरण-शुद्धया नीचैर्वृत्तिर्विनय सदाभि पूज्येषु ।
सम्यक्त्वाद्याश्रयणात् पञ्च विध सोऽपि विज्ञेय ॥११२॥

मन वचन और काय की शुद्धि पूर्वक-सरलता पूर्वक नम्रता का भाव और व्यवहार विनय सदा अभिपूज्यो (माननीयो) मे होना हे वह विनय है। सम्यक्त्व आदिक के आश्रय मे वह भी पाच प्रकार का हैं ॥ ११२ ॥

व्यापदि यद क्रियते, तत्, वैयावृत्य स्वशक्तिसारेण ।
ह्याचार्यादिसमाश्रयवशतो दशधा विकल्प्य तत् ॥११३॥

सकट के समय अपनी शक्ति के अनुसार जो धर्मानुराग से किया जाता है वह व्यापत्ति (विपदा) को दूर करने वाला निर्दोष रीति मे किया जाने वाला कर्म वैयावृत्ति है। आचार्यदिक के समाश्रय मे वह दश प्रकार का होता है ॥ ११३ ॥

स्वध्ययनमागमस्य स्वाध्यायाख्य तपस्ततो मुख्यम् ।
परिवर्तनादि भेदात्पञ्चविध तद्वदन्त्यार्या ॥११४॥

आगम का भले प्रकार अध्ययन स्वाध्याय नाम का मुख्य तप है उसको

पूज्य पुरुष परिवर्तनादि के भेद से पाच प्रकार का प्रतिपादन करते है ॥११४॥

ध्यान वर्णन

उत्तम-संहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधनं ध्यानम् ।
अन्तर्मुहूर्तकालं चार्तादि चतुःप्रकारयुतम् ॥११५॥

उत्तम सहनन वाले के एक को मुख्य करके चिन्ता का अन्य ओर से हटा कर स्वध्येय मे लगाये रखना ध्यान है वह ध्यान एक अन्तर्मुहूर्त तक होता है। आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये उसके चार प्रकार हैं ॥ ११५ ॥

इतरत्रिक संहननस्याऽस्थिरपरिणामसयुतस्यापि ।
स्यादार्तादिकचिन्ताहेतु द्वितये च परिणाम ॥११६॥

और अनुत्तम सहनन वाले अस्थिर परिणाम से युक्त के भी आर्तादिक चिन्ता हेतु द्वय (दोंनो) मे भी परिणाम होता है। तथा धर्म ध्यान भी होता है ॥ ११६ ॥

अर्तिर्दुःखं तस्यां, ध्यानमार्तनाम भवेत् ।
स्वेष्टवियोगाद्युद्भवभेदेन चतुर्विकल्प तत् ॥११७॥

अर्ति दुःख या पीडा के होने पर उसका चिंतवन करने से आर्तध्यान होता है तथा अपनी इष्ट वस्तु के वियोग होने आदि से उत्पन्न होने वाला वह आर्तध्यान चार प्रकार का होता है। ॥ ११७ ॥

योगादौ सति हेतौ बाह्येऽपनीतये तस्य ।
बुद्धिसमन्वाहारे ह्यार्तध्यानानि चत्वारि ॥११८॥

अनिष्ट के सयोगादि हेतु के होने पर बाह्य के दूर करने के लिये बुद्धि मे पुन. पुन चिंतन होने पर चार प्रकार का आर्तध्यान होता है। विषयो मे नियत रूप से चित्त लगाना निदान नाम का आर्तध्यान है। ॥ ११८ ॥

रुद्र क्रूरस्तस्मिन्समुद्भव रौद्रनामक ध्यानम् ।
भवति चतुर्विधमेतत् हिंसानन्दादि भेदेन ॥११९॥
हिंसादीनां बाह्ये हेतौ सति तत्प्रसिद्धयेस्थिरके ।
बुद्धिसमन्वाहारे रौद्रध्यानानि चत्वारि ॥१२०॥

रुद्र क्रूर परिणाम को कहते है उसमे होने वाला रौद्र नामक ध्यान होता है वह हिंसानन्दादिक के भेद से चार प्रकार का होता है। हिंसादिक के वाह्य हेतु के होने पर उसकी प्रसिद्धि के लिये स्थिररूप से उस उसमे बुद्धि को पुन लगाने से चार प्रकार के रौद्रध्यान होते है। हिंसा सरक्षणानद, चौर्य सरक्षणानन्द, मृषा सरक्षणानन्द, और परिग्रहानन्द, ये रौद्रध्यान के चार भेद हैं। ॥ ११९ ॥ १२० ॥

धर्मसहचारि पुण्योधर्मस्तत्कर्म-धर्म्यनाम स्यात् ।
ध्यान चतुर्विध तद्ध्यानमाज्ञाविचयादिभेदेन ॥१२१॥
आज्ञेत्यागमसज्ञा तद् गदिताशेषवस्तुसदोह ।
गुणपर्यायविचिन्तनमाज्ञाविचयाह्वय ध्यानम् ॥१२२॥
ज्ञानावरणादीनामपायसचिन्तनस्थिरत्वेन ।
विद्यादपायविचय ध्यान नानाप्रभेद तत् ॥१२३॥

धर्म से सहचरित पुण्य धर्म है तथा उसका कर्म धर्म्य होता है वह धर्म ध्यान आज्ञा विचयादिक के भेद से चार प्रकार का होता है। आज्ञा यह आगम की सज्ञा है। उसके द्वारा कहा गया अशेष वस्तु समूह रूप गुण पर्याय का विचिन्तन आज्ञा विचय नाम वाला धर्म्य ध्यान है। ज्ञानावर्णादिक कर्मों के दूर करने के उपाय का चिंतन स्थिर रूप से जिस मे होता है वह नाना भेद वाला अपायविचय धर्म्य ध्यान है। ॥ १२१ ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

बन्धादिभिर्विकल्पैश्चतुर्विधो दुरित-संकुलापाय ।

प्रकृतिस्थित्याद्यै रपि तत्रैकैकं चतुर्भेदम् । १२४॥

बन्धादिक के भेदो से चार प्रकार का दुरित (पाप) समूह का अपाय प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से एक एक प्रकृति मे वह चार चार भेद वाला चिंतन होता है। बन्ध की व्युच्छित्ति के विषय मे गुणस्थानो के अनुसार चिंतन करना चाहिये ॥ १२४ ॥

—बंध व्यु० १४ गुणस्थानो मे—

षोडशकपञ्चविंशति दशकचतुष्षटकस्यैक षट्त्रिंशत् ।

पञ्चक षोडशकैक १६-०-०-१-० बंधपाया गुणेषूह्या ॥१२५॥

१६–२५–०–१०–४–६–१–३६–५–१६–०–०–१–०

—उदय व्यु० १४ गुण स्थानो मे—

दश-चतुरेक सप्तादशाष्ट–पञ्चकचतुष्कषट्षटकम् ।

सैकद्विषोडर्शात्रिंशद् द्वादशचात्रोदयापाया ॥१२६॥

१०–४–१–१७–८–५–४–६–६–१–२–१६–३०–१२

—उदीर्णा व्यु० १४ गुण स्थानो मे—

दशचतुरेकं सप्तादशाष्टकाष्टक–चतुष्कषट्-षट्कम् ।

सैकद्विषोडशैकोना चत्वारिंशद् —०— विपाका ॥१२७

१०–४–१––१७–८–८–४–६–६–१–२–१६–३६–०

—सत्ता व्यु० १४ गुणस्थानो मे—

सप्ताष्टषोडशैकैक षट् कैकैकमेकैकैकम् ।

षोडशपञ्चाशीति सत्त्वापायास्तुदुरितानाम् ॥ २८॥

तीन आयु का चरम शरीरी के सत्व नही होता है।

०—०—० चोथे से सातवें तक मे से किसी ७, आठवें मे ०

————————— —३६ (८-१६-१-१-६-१-१-१-१)—

३ १-०-१६-०-८५

गुग	ब०	वधव्यु०	उ० उदय	व्यु०	उदीरणा	व्यु०	स०	सत्ताव्युच्छित्ति	
१	११७	१६	११७	१०	११७	१०	१४८	०	चरमशरीरी के
२	१०१	२५	१०६	४	१०६	४	१४५	०	मनुष्य के सिवाय
३	७४	०	१००	१	१००	१	१४७	०	तीन आयु का अभाव होता है।
४	७७	१०	१०४	१७	१०४	१७	१४८		७ प्रकृतियो का
५	६७	४	८७	८	८७	८	१४७		क्षय चौथे से
६	६३	६	८१	५	८१	८	१४६		सातवे तक मे
७	५९	१	७६	४	७३	४	१४६		होता है
८	५८	३६	७२	६	६९	६	१४२	०	
९	२२	५	६६	६	६३	६	१४२	३६	
१०	१७	१६	६०	१	५७	१	१४२	१	
११	१	०	५९	२	५६	२	१४२	०	
१२	१	०	५७	१६	५४	१६	१०१	१६	
१३	१	१	४२	३०	३९	३९	८५	०	
१४	०	०	१२	१२	०	०	८५	८५ (७२+१३)	

श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र के अराधना समुच्चय के अनुसार बध व्युच्छित्ति उदय व्युच्छित्ति उदीरणा व्युच्छित्ति तथा सत्ता व्युच्छित्ति का विवरण इस प्रकार से है .—

बध की व्युच्छित्ति—

प्रथम गुण स्थान मे मि० नपु० नरका० तदानु० तदगति० हुं० सु० जाति ४ स्थाव० स० सा० अप० आतप=१६ इनकी बध व्युच्छित्ति होती हैं। दूसरे मे—मध्य के ४ चार सहनन और ४ सम्थान, स्त्यान गृद्धित्रिक ३ अनता ४ त्रियंचत्रिक ३ नीच० दुर्भग० दुस्व० अना० उद्यो० अप्रशस्तवि० स्त्रीवेद इन २५ को ब० व्युच्छित्ति होती है। चौथे मे अप्रत्याख्यान ४ मनुष्यत्रिक० औ०श० अ गो२वज्रवृषभ १=१० ब व्यु०। पाचवे मे-प्रत्या० ४ ब० व्यु०। छठे मे ६-असाता-अर० शोक० अस्थिर अशु० अयश०। सातवे मे-देवायु। ब० व्यु। आठवे मे-३६ निद्रा० प्रच २० हा० रति० जु० भ० ४ ती० निर्माण२प्रश० पचे० २ तेज० का २ औ० श० अ गो२वै० श० अ गो २ समच० दे० आनु० २ स्पर्शादिक ४ दे० गति १ अगुरु० उप० पर० २ उच्छ्वास १ त्रस, बादर २ पर्या० प्रत्येक २ स्थिर-शुभ २ सुभग० सुस्वर० आदेय ३॥ नवे मे-१६ ज्ञाना० ५ दर्श० ४ अ त ५ गोत्र १ यश १। ११ वे –१२ वे तेरहवे मे १ साता की बध व्युच्छित्ति होती है। १४ वे मे०॥

—उदय व्युच्छित्ति—

प्रथम मे १० की उ० व्यु० मि० जाति० ४ स्था० सू० साधा० अप० आतप०। दूसरे मे अनतानुबधी ४। तीसरे मे १ मिश्र (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व प्रकृति) चौथे मे १७-अप्रात्याख्यान ४ गत्यानु० दुर्भ० अनादे२वै० श० अ गो २ देवगति १ नरक गति १ देव आयु नरकायु २ अयश कीर्ति। पाचवे मे प्रत्या-ख्यान ४ तिर्यंच आयुगति २ नीच गोत्र-उद्योत ८ उद-व्यु०। छठे मे ५-स्त्यानगृद्धित्रिक ३ आहारकद्विक २। ७ वे मे सम्यक्त्वप्रकृति १ सहनन ३।

आठवे मे–६ नौकषाय। नवे मे–३ सज्वलन ३ वेद=६ उद व्यु०। दसवे मे=१ सूक्ष्म लोभ। ११ वे मे उत्तम दो सहनन। १२ वे मे–१६ ज्ञाना० ५ दर्शना ६ अतराय ५। तेरहवे मे ३०–अन्यतर वेदनीय १ वज्रवृषभ० निर्माण० स्थिर० शुभ० अशु० दुस्वर० सुस्वर प्रश० अप्रश० औ० श० अगोपाग २। तेज० कार्म० समचतुरस्रादि ६ सस्थान, स्पर्शादि ४ अगुरु लघु० उप० पर० उच्छ्वास प्रत्येक मे उद० से व्युच्छिन्न होती है। चौदहवे मे १२ उद० व्यु० मनुष्यायु० मनुष्यगति० पर्या० पचे० त्रस० बादर० सुभग० आदेय यश० तीर्थंकर अन्यतर वेदनी० उच्चगोत्रये १।

॥ उदीर्णा की व्युच्छित्ति ॥

उदीरणा की व्युच्छित्ति पाचवे तक उदय के समान है–छठे मे साता, असाता, तथा मनुष्य आयु ३ स्त्यानगृद्धित्रिक ३, आहारकद्विक २ ये ८ व्युच्छिन्न होती है। आगे सातवे से बारहवे तक उदय के समान है उदय से तीन तीन कम की उदीरणा १२ वे तक होती है। उदीरणा चरमावली और एक समय पूर्व तक होती है। तेरहवे मे ३९ की उदीरणा व्युच्छित्ति होती है। ३० जो उदय की है उनमे से वेदनीय को छोड कर के शेष २९ नाम की उदीर्णा होती है तथा चौदहव की उदय की १२ मे से वेदनीय और आयु के बिना शेष दश भी यहा तेरहवे मे उदीर्ण होती है ऐसे ३९ की उदीरणा व्यु० तेरहवे मे होती है चौदहवे मे कोई उदीर्णा नही होती है।

। सत्ता व्युच्छित्ति।

प्रथम मे चरम शरीरी के ३ आयु की सत्ता का अभाव होता है। दूसरे मे तथा तीसरे मे सत्ता व्युच्छित्ति नही होती है। चौथे से सातवें तक मे से किसी गुणस्थान मे अनन्तानुबधी ४ और मिथ्यात्वत्रिक ३ की सत्ता व्युच्छित्ति क्षायक सम्यक्त्वी के होती है। आठवें मे सत्ता व्यु० नही है। नवें मे ३६ कषाय अप्र० प्रत्या० ८ तेरह नाम १२ दर्शना ३ ३ स्त्यानगृ० त्रिक ३ नपु० स्त्री० ६

नौ कषाय० पुरुष० तीन सज्वलन ऐसे ३६ की सत्ता व्युच्छित्ति होती है। उनमे ४ जाति, दो गति, दो गत्यानुपूर्वी, नरक और तिर्यंच सम्बन्धी, साधा० सू० स्था० आतप० उद्यो० ये १३ नाम की है। सत्ता व्यु० दसवें मे–१ सूक्ष्म लोभ की सत्ता० व्यु०। ११ वें—१२ वे मे १६, ज्ञाना ५ दर्शना ६ अ त० ५। तेरहवे मे०। १४ वे मे ८५ की सत्ता व्यु० है। उनमे से द्वि चरम मे ७२ की तथा चरम समय मे १३ की सत्ता व्यु० होती है। ७२ मे=१ वेदनी० नीच गोत्र० तथा ७० नाम की व्युछिन्न होती है तेरहवे मे व्यु० ३० मे से नाम की २६ तथा १६ प्रशस्त वर्णादिक की ५ बध ५ सघात ५ सहन० वे० आहा० श० अ गोपाग ४ दुर्भंग १ देवगति १ देगत्या० १ अपयश० अनादे० इन ४१ को मिलाने पर ७० द्विचरम मे नाम की व्यु० होती है। चोदहवे मे उदय की १२ तथा एक मनुष्य गत्यानुपूर्वी इन तेरह की सत्ता व्युच्छित्ति होती है॥

॥ ४ गतियों में बध की व्युच्छित्ति ॥

देव गति–वैं० श० अ गोपाग २ आहारकद्विक, नरकगति, देवगति, तथा दोनों अनुपूर्वी ४–नरक तथा देवायु २ बे–ते० चौ० इन्द्रिय जाति, ३ सू० सा० अप० १६ प्रकृतिया नही बधती हैं। शेष बध को प्राप्त होती हैं। १२०—१६=१०४ का बध देवगति मे होता है।

नरक गति—१०४ मे से एकेन्द्रीय जाति, स्थावर, आतप, के बिना १०४—३=१०१ का बध होता है। तिर्यंच गति मे-तीर्थंकर, आहारक द्विक, के बिना १२०–३=११७ का बध होता है। मनुष्य गति मे–१२० का बध होता है। १२२ मे से बध के अयोग्य मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतियो को घटाने पर १२२–२=१२० का बध होता है। १४८–२६=१२२–२=१२० बधती हैं। शेष मार्गणाओ मे बधादिक को महाबध कर्म काण्ड वगैरह से जानना चाहिये।

दुरितानां तु शुभाशुभभेदानां पाक-जात-सुख-दुःख।
भेदप्रभेद-चिन्ता विपाकविचयाख्यधर्म्यं तु ॥१२९॥

पाप और पुण्य के विपाक (फल) से उत्पन्न सुख और दु ख के विषय मे भेद प्रभेद पूर्वक स्वरूप चिन्तन करना विपाक विचय नाम का धर्म ध्यान है ॥ १२९ ॥

तीर्थंकृदिन्द्र-रथाङ्गभृदादिसुख पुण्यकर्मसपाक ।
नारक-तिर्यक्-नृणा दु ख दुष्कर्म-पाकस्तु ॥१३०॥

तीर्थ कर, इन्द्र, चक्रवर्ति आदिक का सुख पुण्य कर्म के उदय से होता है तथा नारक, तिर्यंच और मनुष्यो का दु ख दुष्कर्म के उदय या उसकी विशेष उदीर्णा से होता है ॥ १३० ॥

बारह अनुप्रेक्षा वर्णन

द्वादशधा गदितानुप्रेक्षा स चिन्तन वदन्त्यार्या ।
सस्थानविचयनाम ध्यानमनेक-प्रभेद-सयुक्तम् ॥१३१॥

बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएँ कही गई हैं उनके सम्यग् चिन्तन को पूज्य पुरुष कहते है । सस्थान विचय नाम का चौथा ध्यान अनेक प्रभेदो से सयुक्त है ॥ १३१ ॥

अध्रौव्याशरणैकत्वान्यत्वकमाजवजवलोको ।
शुचिताश्रवसवरण निर्जरण धर्मबोधि च ध्येयम् ॥१३२॥

अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, ससार, अशुचि, आश्रव, सवर, निर्जरा, लोक, धर्म और बोधि दुर्लभ यह १२ बारह भावनाएँ है । इनका चिंतन करना चाहिये ॥ १३२ ॥

ध्रौव्या ध्रौव्याद्यात्मन्यर्थेऽनेकान्तवादसश्रयणात् ।
नर्ते घटते नष्ट रूप वक्तुर्विवक्षायाम् ॥१३३॥

उत्पाद् व्यय ध्रौव्यात्मक (सत् स्वरूप) पदार्थ मे अनेकान्तवाद की अपेक्षा होने से वस्तु मे सामान्य अपेक्षा से नित्यता तथा विशेष अपेक्षा से अनित्यता घटित हो जाती है। वक्ता की जब नष्ट रूप के वर्णन की अपेक्षा या विवक्षा (कहने की इच्छा) होती है तब उस स्याद्वाद की सहायता ली जाती है अन्यथा उस अनित्यता का घटित होना असभव है ॥१३३॥

भुवन-त्रितयेपुण्योदर्कजवस्तूनि यानि दृश्यन्ते।
तान्यनिलाहतदीपशिखावत्सर्वाण्यनित्यानि ॥१३४॥

तीन भुवन मे पुण्य के उदय के फल से होने वाली सयोगजन्य वस्तु मे जो दिखाई देते हैं वे विशेष, पर्याय दृष्टि से या अर्थ क्रिया की दृष्टि से हैं। उर्ध्व सामान्य से किसी न किसी अवस्था मे प्रदेश की अपेक्षा से ध्रौव्य (नित्य) है। क्योंकि मूल द्रव्य की प्रदेश गणना रूप इयत्ता मे हीनाधिकता नही होती है ॥ १३४ ॥

इन्द्रादिनिलिम्पानामष्टगुणैश्वर्यसयुता सपत्।
शारदशुभ्राभ्राऽऽभ्रोत्करविभ्रमनिभाऽशेषा ॥ १३५

इन्द्रादिक देवो की अणिमादि आठ गुणो से युक्त ऐश्वर्य आज्ञा युक्त सपदा शरद ऋतु के श्वेत बादलो के समूह के विभ्रम के समान सब नश्वर है या वियुक्त (नष्ट) होने वाली है ॥ १३५ ॥

चक्रधरादिनराणांसपत्तिरनेकभोगबलकलिता।
रत्न-निधि-निवह-पूर्णा-करीन्द्रकर्णाग्रवच्चपला ॥१३६॥

चक्रवर्ति आदिक मानवो की सपत्ति अनेक भोग बल (सैन्य) से सहित, चौदह रत्न और नव निधियो से पूर्ण है तो भी वह करीन्द्र (हाथी यूथाधिप) के कर्ण (कान) के समान चपला है ॥ १३६ ॥

रूप कान्तिस्तेजो यौवनसौभाग्यभाग्यमारोग्यम् ।
विभ्रम-विलास-लावण्यादिकमचिरांशलसनभिम् ? ॥१३७॥

शारीरिक रूप, कान्ति, तेज, यौवन, सौभाग्य, भाग्य, आरोग्य, विभ्रम विलास, लावण्य, हाव, भावादिक क्षण नश्वर किरण की चमक के समान है ॥ १३७ ॥

आत्मन्येकीभूत कायोऽप्यमरेन्द्रचापवत्सहसा ।
प्रविलीयते किमन्यत् कर्मकृत दृश्यते नित्यम् ? ॥१३८॥

आत्मा के साथ एकी भूतमा या मिश्रितसा यह शरीर इन्द्र के धनुष के समान सहसा नष्ट हो जाता है तथा कर्म के द्वारा किया हुआ यह सब क्या नित्य दिखाई देता है ? नही अवश्य नष्ट या वियुक्त (अलग) होगा ।

जलबुद्‌बुदेन्द्रचाप क्षणरुच्यादीनि नित्यता नेतुम् ।
शक्यन्ते देवाद्यै र्नकर्मजनितानि वस्तूनि ॥१३९॥

जल के बबूले, इन्द्र धनुष, विद्युत आदि को देवेन्द्रादिक भी नित्य नही बना सकते है तो कर्म जन्य वस्तुएँ नित्य कैसे हो सकती हैं ॥ १३९ ॥

इत्यध्रुवानुप्रेक्षा

दुष्कर्मपाकसभव-जन्म-जरा-मरण-रोग शोकादि ।
सपाते शरण नो जगत्त्रये विद्यते किंचित् ॥१४०॥

दुष्कर्म के फल से संभव जन्म, जरा, मरण, रोग शोक वगैरह के होने पर तीन जगत मे किंचित शरण नही है ॥ १४० ॥

स्वर्गो दुर्गं वज्रं प्रहरणमैरावणो गजो भृत्याः ।
गीर्वाणादेवेशः नो किं परेषु वच, ॥१४१

जब पूर्ण आयु का अभाव हो कर दूसरी आयु का प्रारम्भ होता है तब न स्वर्ग ही उसके लिए शरण है न दुर्ग (किला) ही। वज्र, ऐरावत हाथी, नौकर, तथा स्वर्ग का इन्द्र और देव भी शरण भूत नही होते हैं तो अन्य का क्या कहना ? ॥ १४१ ॥

बहुजात्यश्वमदद्विपरथा नायक बलरथाङ्गशस्त्रादि ।
चक्रेश शरण नो, मर्त्येषु का वार्ता ? ॥१४२॥

न तो नाना प्रकार के घोडे, मस्त हाथी, सारथी, बल, चक्र, आदिक शस्त्र ही शरणभूत है और न चक्रवर्ति ही शरणभूत है तो मनुष्यों मे तो शरण की क्या बात ? ॥ १४२ ॥

किं जलकपुञ्जपिञ्जर गुञ्जदलिनिकरराजिताब्जवनम् ।
मदकुञ्जरवद्वार्यो मृत्युर्मृद्नाति भुवनमिदम ॥१४३॥

केशर समूह से पीले रग के गुञ्जार करते हुए अलि (भवरा) समूह से शोभित कमल को जब मस्त हाथी कुचलता है तब उसको बचाने वाला कोई नही है वैसे जब मृत्यु रूपी हाथी से यह लोक मर्दन को प्राप्त होता है तब कोई बचाने वाला नही है ॥ १४३ ॥

यद्वन्नशरणमुग्रद्विपविद् विड्वदनवर्तिहरिणशिशो
तद्वन्नशरणमन्तकवक्त्रान्तरवर्तिजनताया ॥१४४॥

जैसे सिंह के मुंह मे पडे हुए हरिण से शिशु को कोई शरण भूत नही है वैसे मृत्यु के दाढो मे पडी हुई जनता के लिये कोई शरण भूत नही है ॥१४४॥

इत्यशरणानुप्रेक्षा

एकोगर्भार्भकनवयौवनमध्यत्ववृद्धतावस्था ।
व्याधिभयमरणशोकव्यायासानानुभत्यात्मा ॥१४५॥

विविध' सुखदुखकारणशुभाशुभव्यानकर्मसघातम् ।
स्व–निमितवशादेको बध्नाति विचित्रपरिणामं ॥१४६॥

दृग्बोधनादि–गुण रूपात्माकर्माष्टक निमित्ताभ्याम् ।
उन्मूल्यसमूल स्वयमुपैतिनिर्वाणसुखमेक ॥१४७॥

यह जीव अकेला ही गर्भ से अर्भक 'बालक' होता है तथा यौवन को प्राप्त कर, अधेड (मध्यम वयवाला) हो जाता है तथा अकेला ही वृद्धावस्था से ग्रसित होता है यह आत्माव्याधि, भय, मरण, शोक, व्यायाम आदि का अकेला ही अनुभव करता है। विविध दुख सुख के कारण पाप पुण्य कर्म के समूह अपने स्व नाना परिणामो के निमित्त के वश से अकेला ही बाँधता है। यह आत्मा सच्चे श्रद्धान ज्ञान और आचरण से अ तरङ्ग बहिरङ्ग दोनो निमित्तो की सहायता से समूल अष्ट कर्मों को नष्ट करके स्वय अकेला ही निर्वाण सुख (आकुलतारहित) को प्राप्त करता है॥ १४५ ॥ १४६ ॥ १४७ ॥

इत्येकत्वानुप्रेक्षा ,।

मातृ–पितृ–पुत्र–पौत्र–भ्रातृ–कलत्रादिबन्धुतां कर्म ।
योजयति वियोजयति च मारुत इव जीर्णपर्णानि ॥१४८॥

जिस प्रकार हवा के चलने से जीर्ण पत्र सयुक्त होकर वियुक्त (अलग) हो जाते हैं वैसे कर्म, माता, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, कलत्रादिक बन्धुओ का सयोग और वियोग कराता है जैसे मारुत (हवा–पवन) जीर्ण पत्रो का सयोग वियोग कराता है वैसे माता पितादिक का कर्म सयोग वियोग कराता है। ॥ १४८ ॥

अन्योऽज्ञोऽय प्राणी मोहोदयविह्वलीकृतोऽन्यस्य ।
शोके हर्षे जाते करोति बत शोकहर्षौच ॥१४९॥

यह आत्मा—ज्ञ है तथा जीव से इतर अन्य द्रव्य अचेतन हैं तो भी यह प्राणी अन्य के सयोग तथा वियोग मे कभी शोक और कभी हर्ष करता है। यह अतत्वज्ञता के प्रति खेद है।

कार्येण जनस्य शत्रुर्मित्र च भवति लोकेऽस्मिन् ।
भिन्न–स्वभावकोऽय सिकतामुष्टिवदशेषजन ॥१५०॥

ज्ञानादिगुणप्रकृतिकजीवद्रव्यात्पर स्वकायादि ।
यद् दृश्यते समस्त तदन्यदिति बुद्धिमतस्त्वम् ॥१५१॥

इस लोक मे कार्य के वश शत्रु और मित्र होता है। यह सारा जन मुट्ठी मे भरे हुए बालु के समान अन्य अन्य है। वैसे ये सब द्रव्य भिन्न भिन्न स्वभाव वाले हैं वे एक दूसरे रूप नही है। ज्ञानादिक गुण स्वभाव वाले जीव द्रव्य से स्वकायादिक बद्ध एकत्व रूप है तो भी लक्षण की अपेक्षा पृथक् पृथक् स्वभाव वाले हैं। जो कुछ चैतन्य और अचेतन हैं अथवा दृश्यमान पुद्गल पदार्थ इस बुद्धिमान आत्मा से पृथक् पृथक् हैं। वे एक दूसरे रूप नही है १५० ॥ १५१ ॥

॥ इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा ॥

पञ्चविधे ससारे कर्म-वशाज्जैनदेशित मुक्ते ।
मार्गमपश्यन्प्राणी नाना दु खाकुले भ्रमति ॥ १५२ ॥

कर्म के वश से पच परावर्तन रूप ससार मे जैन धर्मोपदिष्ट मुक्ति के मार्ग को श्रद्धा से न देखते हुए नाना दुख से परिपूर्ण ससार मे भटकता है ॥ १५२ ॥

सर्वेऽपिपुद्गला खल्वेकेनात्तोज्झिताश्च जीवेन ।
ह्यसकृत्वनन्तकृत्व पुद्गलपरिवर्तससारे ॥ १५३ ॥

सर्वत्र जगत् क्षेत्रे देशो न ह्यस्ति जन्तुनाक्षुण्ण ।
ह्यवगाहनानि बहुशो बभ्रमता क्षेत्रससारे ॥ १५४ ॥

प्राय प्रत्येक जोव ने सब के सब भी पुद्गल प्राप्त करके छोड दिए और वे भी पुद्गल परिवर्तन ससार मे अनत बार भी छोड दिए जाते है। सर्वत्र तीन लोक क्षेत्र मे एक भी प्रदेश ऐसा नही है जहा वह क्षेत्र परिवर्तन रूप ससार मे बहुत बार उत्पन्न न हुआ हो ॥ १५३-१५४ ॥

उत्सर्पणावसर्पणसमयावलिकासु निरवशेषासु ।
जातोमृतश्चबहुश परिभ्रमन् कालससारे ॥ १५५ ॥

नरक-जघन्यायुष्याद्युपरिग्रैवेयकावसानेषु ।
मिथ्यात्वसश्रितेन हि भवस्थिति र्भाविता बहुश ॥ १५६ ॥

सर्व-प्रकृति-स्थित्यनुभाग-प्रदेश-बन्ध-योग्यानि ।
स्थानान्यनुभूतानि भ्रमता भावससारे ॥ १ ७ ॥

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल की प्रत्येक आवलिका (असंख्य सूक्ष्म समयो की) के समयो मे काल परिवर्तन रूप ससार मे बार बार उत्पन्न हुआ और मरा। नरकादिक की जघन्य आयु के समयप्रमाण बार बार वहा उत्पन्न होकर एक एक समय की आयु को बढाते हुए नरक मे तेतीस सागर तक स्वर्ग मे इकतीस सागर तक तथा तर्यच और मनुष्यो मे तीन पल्य की आयु प्रमाण आयु को प्राप्त करने वाला मिथ्यात्व के कारण बहुत बार हुआ। तीर्थंकर, आहारक शरीर अगोपाङ्गादि तथा मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति के बिना शेष प्रकृतियों के चार प्रकार के बध यथासभव स्थानो सहित ससार मे भटकते हुए

ससार मे अनुभव किया । इस प्रकार यह दु ख की बहुलता से युक्त सुखाभास रूप है अत यह हेय है ॥ १५५ ॥ १५६ ॥ १५७ ॥

इति ससारानुप्रेक्षा

जीवाद्यर्था यस्मिन् लोक्यन्तेऽसौ निरूप्यते लोक ॥
सोऽधोमध्योर्ध्वविभिदा त्रेधा बहुधा प्रभेदै स्यात् ॥ १५८ ॥
स्यात्सुप्रतिष्ठक कृतिरनादिनिधनात्मकोऽधश्च सदृश ।
वेत्रासनेन मध्य झल्लर्योर्ध्वं मृदङ्गेन ॥ १५९ ॥

जिसमे जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं वह लोक कहा जाता है वह अधो, मध्य तथा ऊर्ध्व के भेद से बहुधा तीन प्रभेदों से सहित है । यह लोक सुप्रतिष्ठ के समान आकृति वाला अनादि निधन है अध भाग मे वेत्रासन (बेत के आसन) के समान है तथा मध्य मे झल्लरी के समान है तथा ऊर्ध्व-भाग मृदङ्ग के सदृश है । १५९ ॥

सप्ताधोनरका स्युर्मध्ये द्वीपाम्बुराशयोऽसख्या ।
स्वर्गास्त्रिषष्टिभेदा निर्वाणक्षेत्रमत्रोर्ध्वम् ॥ १६० ॥

अधो लोक मे सात नरक हैं, मध्य मे असख्यात द्वीप समुद्र हैं तथा ऊर्ध्व लोक मे स्वर्गों के त्रेसठ पटल हैं, उनके ऊपर सिद्ध लोक (निर्वाण क्षेत्र) है ॥ १६० ॥

अत्युष्णशीतकर्कशरूक्षाशुचिरतिविरसदुर्गन्धि ।
भूमिषु नरकेषूग्रं दु खं प्राप्नोति पापिजन ॥ १६१ ॥

नरको की भूमियो मे पाचवें नरक के दो लक्ष बिलो मे अत्यन्त उष्णता है तथा पाचवे के शेष एक लक्ष बिलों तथा छठें और सातवें नरक मे अत्यन्त

शीत्य (शीतलता युक्त) पाया जाता है। नरको की उक्त भूमिका अत्यन्त कठोर रूखी, अपावन, विरस तथा दुर्गन्धता से व्याप्त हैं। न खाने को वहा अन्न है और न वहा पीने को पानी ही प्राप्त होता है ॥ १६१ ॥

छेदन-भेदन ताडन -बन्धन-विशन-विलम्बनोत्तपन्

ज्वलनादिकर्मसतत प्रकुर्वते नरकिणोऽन्योन्यम् ॥ १६२ ॥

वहा नरको मे नारकी परस्पर छेदन, भेदन, ताडन, बन्धन, विशन (चीरना) विडम्बन, उत्तपन (बहुत तपाना) जलाना आदि करते रहते है। ॥ १६२ ॥

एकद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रिय सज्ञाश्च जगति तिर्यञ्च ।

दु खमनेकविकल्प पापोदकोदनुभवन्ति ॥ १६३ ॥

पाप के उदय के फल मे एक, दो, तीन, चार तथा पञ्चोन्द्रिय तिर्यञ्च जगत मे अनेक प्रकार के विकल्प वाले दुख का अनुभव करते है ॥१६३॥

मनुजेषु पाप पाकाद् द खमनेकप्रकारमाप्नोति ।

प्राणि-गण पुण्यवशादभ्युदयसुखानि विविधानि ॥ १६४ ॥

मनुष्यो मे पाप के उदय से अनेक प्रकार के दु ख प्राप्त करता है। प्राणिगण पुण्य के वश से विविध अभ्युदय (स्वर्ग सुख) सुखो को प्राप्त करते हैं ॥ १६४ ॥

शुद्धाशुद्धचरित्रैर्नानाभेदोच्चनीचनिलयेषु ।

सभूतो देवगण सौख्यमनो दु खमनुभवति ॥ १६५ ॥

मर्त्यक्षेत्रसमाने श्वेतच्छत्रोपमे जगच्छिखरे ।

स्वोत्थ सौख्यमनन्त विध्वस्ताधो जनो भजते ॥ १६६ ॥

जीव शुद्ध और अशुद्ध चारित्र के अनुसार नाना भेदो मे युक्त ऊ चे तथा नीचे विमानो मे उत्पन्न देवसमूह सुख तथा मानस सम्बन्धी दु ख का अनु-

भव करता है। मनुष्य लोक के समान पैतालक्ष योजन परिमाण वाले व श्वेत छत्र के समान उपमा वाले जगत् के शिखर पर आत्मोत्थ अनन्त सुख को सदा जीव वहा निज मे भजता है अनुभव करता है ॥ १६६ ॥

॥ इति लोकानुप्रेक्षा ॥

अशुचितम-शुक्र-शोणित सभूत छर्दितान्नसवृद्धम् ।
दोष-मल-धातु-निलय कथ शरीर वद शुच्मिदम् ॥ १६७ ॥

उक्तच—**रसादरक्त ततो मास मांसान्मेद प्रवर्तते ।**
मेदसोऽस्थिततो मज्जा मज्जा शुक्र तत प्रजा ॥
वात पित्त तथाश्लेष्मसिरा स्नायुश्च चर्म च ॥
जठराग्निरिति प्राज्ञै प्रोक्ता सप्तोपधातव ॥

अपवित्रतम वीर्य और रुधिर से सभूत तथा वात अन्न से बढा हुआ दोष, मल, तथा धातु का निलय यह शरीर कैसे शुचि हो सकता है ? कहा भी है—रस से रक्त तथा उससे मास, मास मे मेद होता है, मेद से अस्थि उससे मज्जा, तथा मज्जा से शुक्र और शुक्र से प्रजा होती है वात, पित्त और कफ सिरा, स्नायु, चर्म तथा जठराग्नि ये प्राज्ञो (बुद्धिमानो) के द्वारा सात धातुएँ कही गई है ॥ १६७ ॥

अस्थि-घटित सिरा-सबद्ध चर्मावृत च मांसेन ।
व्यालिप्त किल्विषवसुकथ नाशुचि देहगेहमिदम् ॥ १६८ ॥
शुचिसुरभिपूतजलमालाम्बरगन्धाक्षतादिवस्तूनि ।
स्पर्शेनाशुचि भाव नयति कथं शुचि भवेदङ्गम् ॥ १६९ ॥

अस्थियो से घडा हुआ, सिराओ से बधा हुआ, तथा मास से वेष्टित

व्यात्त आठ प्रकार के किल्विष मलो से अत्यन्त लिप्त यह शरीर कैसे पवित्र हो सकता है ? जिस शरीर के सयोग को पाकर पवित्र सुगधित स्वच्छ जल, माला, वस्त्र, राग, अक्षतादिक वस्तुओ को जो शरीर अपने सगम से अपावन बना देता है वह शरीर पावन कैसे हो सकता है ? ॥ १६८ ॥ १६९ ॥

माक्षिक-पत्र समान यदि चर्माङ्गस्य भवति नो बाह्ये ।
द्रष्टु स्प्रष्टु काकादिभ्यस्त्रातु च नो शक्यम् ॥ १७० ॥

मक्खी के पख के समान हमारे चर्म शरीर के बाह्य न हो, तो न तो वह देखने मे प्रिय लगता (मनोहर) है और न कोई उसको छूना ही पसद करता है तथा काकादि से उसकी रक्षा भी शक्य (सभव) नही है ॥ १७० ॥

॥ इति अशुचित्वानुप्रेक्षा ॥

जन्म-समुद्रे बहु-दोष-वीचिके दु खजलचराकीर्णे ।
जीवस्य परिभ्रमणे निमित्तमत्रास्त्रवो भवति ॥ १७१

बहु दोष रूपी लहरो युक्त तथा दु ख रूपी जलचरो से युक्त यहा जन्म समुद्र मे जीव के परिभ्रमण मे निमित्त आश्रव होता है ॥ १७१ ॥

यद् वत्सास्रवपोतो वारिमध्ये निमज्जति क्षिप्रम् ।
तद्वत्कर्मास्रववज्जीवः ससारवारिनिधौ ॥ १७२

जैसे आस्रव सहित जहाज शीघ्र समुद्र मे डूब जाता है वैसे कर्मास्रववान जीव ससार समुद्र मे डूब जाता है। १७२ ।

आस्रव हेतुमिथ्यात्वाविरतिकषाययोगका पञ्च
द्वादशक-पञ्चविंशति पञ्चादशमेवयुक्ताश्च ॥ १७३

कारण-वशेन गाढ लानं कर्मोग्रदुःखजलपूर्णे ।

भ्रमयति संसाराब्धौ सुचिर कालं तु जन्तु-गणम् ॥ १७४

प्रागाश्रितकर्मवशाद् दु परिणामा भवन्ति तेभ्योऽन्यत् ।

बध्नाति दुरितमेव बीजाङ्कुरवत्ताखवणे ॥ १७५

आस्रव के हेतुभूत पूर्व मिथ्यात्व, १२ अविरति, २५ कषाय तथा १५ योग हैं। कारण के वश से गाढ़ गाढ़ बद्ध कर्म उग्र दु ख रूपी जल से पूर्ण ससार ससुद्र मे जन्तु समूह को चिरकाल तक भ्रमण कराता है। पूर्व आश्रित कर्म के उदय के वश से दुष्परिणाम होते हैं उनसे जीव अन्य दुरित (पाप) को ही विशेष अनुभाग (विपाक रस फल) से युक्त करता है। बीज से जैसे अङ्कुर होता है वैसे आस्रव विशेष से अनुभाग बन्ध विशेष प्रकार से होता है। अशुभ परिणामो ने पाप प्रकृतियो मे रस विशेष होता है तथा शुभ परिणामों से पुण्य प्रकृतियो मे अनुभाग अधिक पडता है ॥ १७३ ॥ १७४ ॥ १७५ ॥

॥ इति आश्रवानुप्रेक्षा ॥

संसारवारिराशेस्तरणेऽवान्तरसमुद्भवाभ्युदय. ।

प्राप्तौ च कारणं स्यात्संवरणं जन्तुनिवहस्य ॥ १७६ ।

ससार समुद्र से तरने मे जन्तु समूह का संवर कारण होता है इतना ही नही अपितु वह कषायो को मद करने तथा परिणामो को शुभ करने मे निमित्त पडता है अत वह पुण्य से होने वाले अभ्युदय (स्वर्गादिक वैभव) का होना भी 'सर्वार्थसिद्धि' आदिक ग्रन्थो मे वर्णित है। जैसे अग्नि जलाने, तपाने, पकाने, अगारे भस्म आदिक के बनाने मे सहायक है वैसे तप अभ्युदय पूर्वक नि श्रेयस (निर्वाण सुख) की भी प्राप्ति का हेतु है। क्षपक श्रेणी वाले के लिये वह नि श्रेयस का कारण होता है ॥ १७६ ॥

यद्वदनास्त्रवपोतो वाञ्छितदेश भृश समाप्नोति ।
तद्वदनास्त्रवजीवो वाञ्छितमुक्ति समाप्नोति । १७६

सवर–हेतु सम्यग्दर्शन–सयम–कषायरहितत्वम् ।
योगनिरोधस्तेषा भेदा वेद्या सदागमत ॥ १७८

जैसे छिद्र रहित जहाज इच्छित स्थान को बहुत अच्छी तरह से प्राप्त होता है वैसे अनाश्रवजीव इच्छित मुक्ति को प्राप्त करता है । सवर का हेतु सम्यग्दर्शन सयम तथा कषाय रहितपना तथा योग का निरोध है । उनके भेद सदागम से जानने योग्य हैं ॥ १७७ ॥ १७८ ॥

मिथ्यात्वास्त्रवजाना मार्गा सम्यक्त्व–दृढ़–कवाटौघै ।
अविरत्यास्त्रवजाना व्रतनिवत–महापरिघै ॥ १७९

क्रोधास्त्रवजाना द्वाराण्यकषायभावफलकाभि ।
योगास्त्रवजाना प्राणिरुध्यन्तेऽयोगता वृत्या ॥ युग्मम् १८०

सम्यक्त्व रूपी दृढ किवाड समूह से मिथ्यात्व रूप आस्त्रव द्वार बद कर दिये जाते हे । व्रत रूपी महा परिघ (अर्गला) के द्वारा अविरति के द्वारा होने वाले आस्त्रवरूपी मार्ग अवरुद्ध (रुके हुए) किये जाते हैं । अकषाय भाव रूप फलको (पाटियो) से क्रोध जन्य आस्त्रवद्वार रोक दिए जाते हैं तथा अयोग्यता रूप आवृत्ति से योगास्त्रव से होने वाले द्वार प्रकृष्ट रूप से निरुद्ध (रोके हुए) कर दिये जाते है ॥ १७९ ॥ १८० ॥

॥ इति सवरानुप्रेक्षा ॥

पूर्वोपार्जितकर्मप्रविगलन निर्जराविनिर्दिष्टा ।
सा द्विविधाज्ञेयास्यादुदयोत्थोदीरणोत्थाच ॥ १८१

पूर्व सचित कर्म का जो खिरना है वह निर्जरा कही गई है। वह निर्जरा दो प्रकार की है। उदय से होने वाली तथा दूसरी उदीर्णा (अपकर्षण द्वारा) उदयावली मे देने से होने वाली है ॥ १८१ ॥

उदयोत्था ससृतिगतजीवानां सर्वदैव सर्वेषाम् ।
ज्ञानावरणादीनां स्थितिके काले परिसमाप्ते । १८२

उदय से होने वाली निर्जरा सर्व ससारी जीवो के सदा ही पाई जाती है। जो कि ज्ञानावरणादिकको की स्थिति के काल के परिसमाप्त होने से होती रहती है।

कालेऽप्यपरिसमाप्ते परिणामसुप्रग्रहाकृष्टानाम् ।
कर्माणूनां भवति त्व दीरणोत्था द्विभेदा सा ॥ १८३

कर्म स्थिति काल के अधिक होने पर भी परिणाम रूपी रस्सी से अपकर्षण करके काल के पूर्ण न होने पर भी कर्मरूप अणुओ की उदीर्णा (उदयावली मे क्षिप्त) होती है तथा वह उदीर्णा दो प्रकार की है। १८३।

देशसकलाभिधाभ्या देशाख्यानात्तयोरनेकविधा।
सकला तपसा महता दरिताना निर्जरा भवति ॥
कालोपायाभ्या फलपाकः सदृश्यते यथागेषु ।
अकालोपायाभ्यां फलपाक कर्मसु तथा भवति। १८५

देश निर्जरा तथा सकल निर्जरा के भेद से उदीर्णा दो प्रकार की होती है जो देश रूप से उदीर्णा होती है वह भी अनेक प्रकार की है तथा तप से होने वाली सकल निर्जरा उदीर्णा महातप से पाप या कर्मों की होती है। यथा काल और उपाय मे जैसे फल पाक पाप कर्मो मे या फलो मे देखा जाता है वैसे अकाल और अनुपाय से फल पाक कर्मों मे भी वैसे होता है। अबुद्धि

पूर्वक होने वाली अकुशल मूला तथा बुद्धि पूर्वक यत्न से कुशल मूला सानुबधा तथा यत्न से कुशल मूला निरनुबधा होती है। इन निर्जराओ के विषय मे सर्वार्थ सिद्धि मे परिचय प्राप्त करना चाहिये जो बुद्धि पूर्वक तप से होती है। जैसे बुद्धि पूर्वक अकाल मे भी आम को पाल मे पका दिया जाता है ।। १८४ ।। १८५ ।।

।। इति निर्जरानुप्रेक्षा ।।

अभ्युदयज निःश्रेयस-सभव-सौख्येषु य सदा सत्वम् ।
धारयति सोऽत्र धर्मोऽहिंसादिकलक्षणोपेत । १८६

जो कि अभ्युदय (इह परलोक सम्बन्धी वैभव सुख) तथा निःश्रेयस (पूर्ण सुख-मोक्ष) से होने वाले सुखो मे जो सदा जीव को धरता है वह यहा अहिंसादिक लक्षण से सहित धर्म है ।। १८६ ।।

सद्विविध सागरोऽनगाराख्यानभेदतस्तत्र ।
प्रथमोऽप्येका दशधा, दशधा प्रविभज्यते ह्यन्य ।। १८७ ।।

वह धर्म सागार तथा अनागार के नाम से दो प्रकार का है उनमे से प्रथम ग्यारह भेद वाला है तथा अन्य अनागार धर्म दश प्रकार से विभाजित किया जाता है। कहा भी है—

दसण-वय-समाइय-पोसह सचित्त-राइ भत्तेय ।
बभारभ-परिग्गह अणुमण मुद्दिट्ठ देसविरदो य ।।

दर्शन प्रतिमा, व्रत प्रतिमा, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रि भुक्ति त्याग तथा दिवा मैथुन त्याग, स्वस्त्री का भी सेवन त्याग ब्रह्मचर्य, प्रमुख पापारम्भ त्याग, परिग्रह का विशेष प्रकार से त्याग (वस्त्र पात्र को छोड कर गृहस्थ नवी प्रतिमा मे शेष परिग्रह को छोड दे) पापानुमति त्याग, और

भिक्षा से भोजन यह ग्यारह दरजे श्रावक के हैं। "रत्नकरण्ड, धर्मरत्नाकर, वसुनन्दि श्रावकाचार" आदि मे इनका विस्तार से वर्णन है अत उनको पढ़कर उम विषय मे ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग और आकिंचन तथा ब्रह्मचर्य के विषय मे उत्तम विशेषण सहित अनगार धर्म को कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि से विशेष प्रकार से जानना चाहिये ॥ १८७ ॥

दृष्टि-व्रत-सामायिकपूर्वा प्रथमस्य सम्यगवगम्या ।
भेदाह्य पासकाध्ययनोदितरूपेण विद्वद्भिरमी ॥ १८८

दर्शन व्रत, सामायिक, आदि ग्यारह कक्षा या वर्ग रूप प्रतिमाएँ सागारधर्म के भेद से विद्वानो के द्वारा उपासकाध्ययन मे कहे गये प्रकारानुसार समीचीन प्रकार से जानना चाहिये। श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र की गाथाओ से उस विषय मे निर्णय करना चाहिये ॥ १८८ ॥ कहा भी है

सम्यक् अ श जग्यो जहाँ भोग अरुचि परिणाम,
उदय प्रतिज्ञा को भयो प्रतिमा ताको नाम

स्यु क्षान्ति मार्दवार्जवसत्यत्यागादयो द्वितीयस्य ।
भेदादशविज्ञेया ह्याचाराङ्गोक्तविधिनेव ॥ १८९

दूसरे अनागर धर्म के उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, त्यागादिक दश भेद है आचाराङ्ग मे (आचार सूत्र मे, मूलाचार मे) कही हुई विधि के अनुसार ही जानना चाहिये ॥ १८९ ॥

धर्मोबन्धुर्जगता, धर्मो मित्रं रसायन धर्म ।
स्वजनपरिजनसमूहो धर्मो धर्मो निधिनिधानम् ॥ १९०

सद्धर्म जगत का बन्धु है, सद्धर्म सच्चा मित्र है, धर्म रसायन है, धर्म ही सच्चा स्वजन परिजन समूह है तथा धर्म ही सच्चा निधि सहित निधान (खजाना) है ॥ १६० ॥

धर्मः कल्पमहीजो धर्मश्चिन्तामणिश्च कामदुहः ।
धेनुर्धर्मोऽचिन्त्य रत्न धर्मो रसो धर्मः ॥ १६१ ॥

सद्-धर्म कल्प वृक्ष से कम नही है सद्धर्म एक अनुपम चिन्तामणि है। मनोकामना को पूर्ण करने वाली सद्धर्म से बढ कर कोई कामधेनु नही है तथा सद्धर्म एक अचिन्त्य रत्न है तथा इससे बढ कर विश्व मे कोई सच्चा पारद रस नही है ॥ १९१ ॥

। इति धर्मानुप्रेक्षा ॥

बोधिस्तत्त्वार्थानां श्रद्धान विशदबोधसबद्धम् ।
दुर्लभमेतद्यत्तत्प्रयत्नमस्मिन् सदा कुर्यात् ॥ १९२ ॥

यथावस्थित पदार्थों का जैसा का वैसा विशद बोध से सबद्ध विश्वास निर्णय बोधि है यह सुनिश्चित वैराग्यपूर्ण श्रद्धान दुर्लभ है सदा इसमे यत्न करना चाहिये ॥ १९२ ॥

पञ्चेन्द्रियता नृत्व स्वायु कुलदेशजन्ममारोग्यम् ।
रूपबलबुद्धिसत्त्व विनयो बुधसेवनाश्रवणम् ॥ १९३ ॥

पञ्चेन्द्रियो की परिपूर्णता, पुरुषत्व, अच्छी आयु, सुदेश मे जन्म आरोग्य, रूप, बल, बुद्धि, सत्व (शक्ति) विनय, सयमी, ज्ञानियो की सेवा तथा उनसे तत्व का श्रवण होना ये सब प्राय दुर्लभ हैं ॥ १९३ ॥

युक्तायुक्तविवेको युक्तिग्रहणं च धारयिष्णुत्वम् ।
चेत्येतान्यति दुर्लभतमानि बाहुल्यतोऽन्येषाम् ॥ युग्मम् ॥ १९४ ॥

युक्त तथा प्रायुक्त का विवेक तथा युक्ति से वस्तु स्वरूप का निर्णय करना तथा उसका याद रख लेना ये सब प्राय दुर्लभ हैं क्योंकि इनके विपरीत इन्द्रियो की अपरिपूर्णता आदि से युक्त जो अन्य हैं उनकी बहुलता पाई जाती है ॥ १९४ ॥

लब्धेषु तेषु नितरां बोधिर्दुर्लभतया विशुद्धतमा ।
कुपथाकुले हि लोके यस्माद्बलिन कषायाश्च ॥ १९५ ॥

उन दुर्लभ अवस्थाओ और सयोगो के प्राप्त कर लेने पर भी विशुद्धतमा बोधिका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है क्योकि कुपथ मे लगे हुए कुल मे इस लोक मे कषायो की प्रबलता पाई जाती है ॥ १९५ ॥

इत्यतिदुर्लभरूपा बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् ।
ससृति भीमारण्ये भ्रमति वराको नर. सुचिरम् ॥ १९६ ॥

इस प्रकार दुर्लभ रूपवाली बोधि को प्राप्त करके यदि जीव प्रमादी होता है तो ससार रूपी भयानक वन मे बेचारा मनुष्य सुचिर काल तक भटकता है ॥ १९६ ॥

पतिता बोधिः सुलभा नो पश्चात्सुमहतापि कालेन ।
पतितमनर्घ्यं रत्न सलिलनिधावन्धकारे इव ॥ १९७ ॥

नष्ट हुआ अच्छा निर्णयरूप वैराग्यपूर्ण बोधि=(वैराग्यपूर्ण ज्ञान) बहुत अधिक काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् भी कठिनाई से प्राप्त होता है जैसे अनर्घ्य (अमूल्य) रत्न क अन्धकार पूर्ण सिन्धु मे गिर जाने पर उसका मिलना

सुलभ नही है। किसी को पुन शीघ्र भी वह प्राप्त हो जाता है तथा किसी को वह दीर्घ काल तक भी प्राप्त हो जाता है तथा किसी को वह दीर्घ काल तक भी प्राप्त नही होता है। अत आप्त आगम और तत्त्वार्थ के विषय मे किया गया सुनिर्णय बोधि दुर्लभरूप है अत. वैराग्य और परमार्थ भूत देव शास्त्र और गुरु की शरण ग्रहण कर उसकी सुरक्षा करना चाहिये ॥ १६७ ॥

—इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ॥

ध्यान वर्णन

आकाशे-स्फटिकमणिज्योतिर्वा निश्चल कषायाणाम् ।
प्रशम क्षयज शुक्लध्यान कर्माटवीदहनम् ॥ १९८ ॥

आकाश मे स्फटिक मणि की ज्योति के समान, जो कषायों के उपशम से या क्षय से निश्चल, कर्मरूपी अटवी को जलाने के लिये अग्नि के समान शुक्ल ध्यान है ॥ १६८ ॥

स पृथक्त्ववितर्कान्वितवीचारप्रभृतिभेदभिन्नं सत् ।
ध्यान चातुर्विध्य प्राप्नोतीत्याहुराचार्या ॥ १९९ ॥
अर्थव्यंजक पूर्वश्रुत–जनितज्ञानसपदमाश्रित्य ।
त्रिविधात्मकसक्रान्त्या ध्यायत्याद्येन शुक्लेन ॥ २०० ॥

वह शुक्ल ध्यान पृथक्त्व वितर्क विचार आदिक भेद से भिन्न प्रकार को प्राप्त होता है ऐसा आचार्य कहते हैं। अब कहते है कि–इनमें से प्रथम, भावश्रुतज्ञान से–पूर्वनामाश्रुत समास की सपदा का आश्रय करके अर्थ व्यञ्जन तथा योग रूप त्रिविधात्मक संक्रान्ति से युक्त शुक्ल ध्यान के द्वारा या पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक ध्यान श्रुतज्ञान के द्वारा ध्याया जाता है यह श्रुतज्ञान, उत्कृष्टरूप से द्वादशांग के बराबर होता है तथा नौदश पूर्व धारक

भी इस ध्यान को ध्याते है। जघन्य अपेक्षा से यह अष्ट प्रवचन मातृका प्रमाण भी होता हैं। यह अष्ट प्रवचन मातृका भावश्रुत की अपेक्षा, पूर्णाक्षर रूप होने से द्वादशांग के तात्पर्य के तुल्य है। विशेष जानकारी के लिये धवला तथा सर्वार्थसिद्धि आदिक पठनीय हैं ॥ २०० ॥

वस्त्वेक पूर्वश्रुतवेदो प्रव्यक्तमाश्रितो येन ।
ध्यायति संक्रमरहितं शुक्लध्यानं द्वितीय तत् ॥ २०१ ॥

पूर्वश्रुतवेदी आत्मा अव्यक्त (सु प्रकट) रूप में आश्रय करने वाला किसी एक वस्तु को सक्रम (सक्रांति) रहित जो ध्याता है वह विचार रहित एकत्व वितर्क नामक दूसरा शुक्ल ध्यान है ॥ २०१ ॥

कैवल्य-बोधनोऽर्थान् सर्वांश्च सपर्ययांस्तृतीयेन् ।
शुक्ले न ध्यायति वै सूक्ष्मीकृतकाययोग सन् ॥ २०२ ॥

केवल ज्ञान सम्पूर्ण अर्थ और पर्यायो को काय योग को सूक्ष्म करते हुए तीसरे शक्ल ध्यान के साथ ध्याता है ॥ २०२ ॥

[illegible]-सकल सप ।
ध्यायत्यपेतयोगो येन तु शुक्ल चतुर्थं तत् ॥ २०३ ॥

अठारह सहस्रशील तथा चौरासी लक्ष गुणो से युक्त अर्थात् मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय तथा योग प्रत्यय (कारण) से रहित पूर्ण निरास्रव युक्त अयोगी भगवान् चौथे शुक्ल ध्यान व्युपरत (रुकी हुई) क्रिया निवृति को ध्याता है। अर्थात् अयोगी भगवान के चौथा शुक्ल ध्यान होता है ॥ २०३ ॥

अथ ध्यातंध्यातुं [illegible] योऽ च [illegible] गुणेषु ।
[illegible] भवति हि चतुर्थं ॥ २०४ ॥

पञ्च परमेष्ठी वर्णन

गुणिन पञ्चविकल्पा ह्यर्हन्सिद्धादि सार्थनामधरा ।
स्युरुपेयोपायात्मकदृग्बोधचरित्रसुतपांसि ॥ २११ ॥

अरहन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु ये पांच भेद युक्त गुणी है तथा उपेय (साध्य के) साधन=उपयात्मक सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चरित्र, और तप है ॥ २११ ॥

विनिहतघातिचतुष्का नवकेवललब्धिजनितपरमात्मा ।
व्यपदेशदिव्यध्वनिनिरूपिताशेषतत्त्वार्था ॥ २१२ ॥
त्रिभुवनपतिभिरभिष्टुतनिजयशसोद्भूतविहरणाख्याना ।
देहप्रभृतिसुविभवासकलात्मनस्युरर्हन्त. ॥ २१३ ॥

जो चार घातिया कर्म को नष्ट कर चुके हैं तथा नव केवल क्षायिक लब्धि से जनित परमात्म व्यपदेश को=नाम को प्राप्त हुए हैं दिव्यध्वनि के द्वारा जो अशेष तत्वार्थों का निरूपण कर चुके हैं, त्रिभुवन के सौ इन्द्रों के द्वारा जो स्तुत्य है, अपने यश से जो लोक को व्याप्त करने वाले हैं तथा परमौदारिक आदिक श्रेष्ठ विभूति वाले सकल परमात्मा, अरिहन्त होते हैं ॥ २१२ ॥ २१३॥

निर्गलितसिक्थमूषाभ्यन्तररूपोपमस्वकाकृतय ।
स्वल्पोनचरमदेहसमाना ध्रुवनिष्कलात्मन ॥ २१४ ॥
अष्टविधकर्मरहिता स्वस्थीभूतानिरञ्जनानित्या ।
स्यष्टगुणा कृतकृत्या लोकाग्रनिवासिन सिद्धा ॥ युग्मम् ॥ २१५ ॥

मूषा (मूस=साचे) के अभ्यन्तर भाग मे रहने वाले मोम के गल जाने

पर उस मूषा की अभ्यन्तर आकृति के समान (रिक्त स्थान के समानआकृति वाले) चरम शरीर से किंचित् ऊन ध्रुव सिद्ध भगवान होते हैं। आठ कर्मों से रहित स्वस्थी भूत=आत्मस्थ निरञ्जन नित्य प्रकट गुणवाले कृतकृत्य लोक के अग्र भाग मे निवास करने वाले सिद्ध हैं ॥ २१५ ॥

शिष्यानुग्रहनिग्रहकुशला कुलजातिदेशसंशुद्धा ।
षट्त्रिंशद्गुणयुक्तास्तत्कालिकविश्वशास्त्रज्ञा ॥ २१६ ॥
आचारं पञ्चविधं भव्येनाचारयन्ति ये नित्यम् ।
शक्त्याचरन्ति च स्वयमाचार्यास्ते मते जैने ॥ युग्मम् ॥ २१७ ।

शिष्य के अनुग्रह और निग्रह मे कुशल, कुल जाति देश से सशुद्ध, छत्तीस गुणो से युक्त तत्कालिक विश्व=समस्त शास्त्र के वेत्ता दर्शनाचार ज्ञानाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार को अपनी शक्ति के अनुसार आचरण करते हुए अन्य भव्य दूसरो से सदा आचरण करवाते है वे जैन मत मे आचार्य है ॥ २१६ ॥ २१७ ॥

व्रतसमितिगुप्तिसयमशीलगुणोज्ज्वलविभूषणोपेता ।
देशकुलादिविशुद्धा विजितकषायादिरिपुवर्गा ॥ २१८ ॥
स्वपरसमयागमाना व्याख्यानरता स्वशक्तिसारेण ।
भव्याम्बुजवनदिनपा भवन्त्युपाध्यायनामान ॥ -युग्मम- २१' ॥

व्रत, समिति, गुप्ति, सयम, शील, और गुणो से उज्जवल होने रूप विभूषण से सहित देश, कुल आदि से विशुद्ध, कषाय रूप रिपु वर्ग को जीतने वाले, अपने और परशास्त्रों के तात्पर्य के व्याख्यान मे रत तथा जो अपनी शक्ति के अनुसार भव्य रूपी कमल वन के लिये सूर्य के समान है वे

मुनि उपाध्याय नाम को धारण करते हैं ॥ २१८ ॥ २१६ ॥

मूळोत्तराभिधानेऽखिलगुणैः शासनप्रकाशकरा ।
काले तृतीयकेऽपि प्रवर्तमाना प्रवरशीला ॥ २२० ॥

सिंहगजवृषभमृगपशुमारुतसूर्याब्धिमन्दरेन्दुमणि ।
क्षित्युरगाम्बरसदृशा परमपदान्वेषिणो यतय ॥ २२१ ॥

मूल तथा उत्तर समस्त गुणो से जो शासन को प्रकाशित करने वाले, तीसरे के अ तिम भाग चौथे तथा पाँचवे काल मे प्रवर्तमान श्रेष्ठ शील वाले, सिंह के समान पराक्रमी निर्भय, हाथी के समान व्यवहार और निश्चय करो से स्याद्वाद वाणी के रहस्य का पान करने वाले बलवान मस्त, वृषभ (बैल) के समान उज्वल धर्म से सुशोभित होने वाले, मृग के समान पाप से भयभीत, पशु के समान नग्न शाकाहारी, वायु के समान निःसङ्ग, सूर्य के समान स्व-पर प्रकाशी पर हित करता, मन्दर के समान सुदृढ श्रद्धा वाले धर्म मे सुस्थिर, चन्द्र के समान निर्मल शांति प्रकाश वाले रत्नत्रय से सुशोभित मणि के समान अन्तर्दिप्त स्वानुभवी, क्षिति के समान सहिष्णु, सर्प के समान अन्यकृत वस्तिकादिक मे रहने वाले, आकाश के समान अमूर्त समाधि मे लीन तथा परम पद के अन्वेषण करने वाले यति होते हैं वे यथाजात रूप वाले होते हैं ॥ २२० ॥ २२१ ॥

आराधक का स्वरूप

उपशमवेदकसम्यग्दर्शनभाजो विशुद्धपरिणामा ।
तद्योग्यगुणजीवा. सम्यक्त्वाराधका ज्ञेया ॥ २२२ ॥

उपशम वेदक, सम्यग्दर्शन वाले विशुद्ध परिणाम से सहित तथा उसके योग्य गुण वाले जीव सम्यक्त्व के आराधक हैं ॥ २२२ ॥

मत्यादिच्छद्मस्थज्ञानसमेतास्तदुचितगुणवन्त. ।
ज्ञानाराध्यकसज्ञा भवन्ति सुविशुद्धपरिणामा ॥ २२३ ॥

मति आदिक छद्मस्थ के ज्ञान से सहित उसके योग्य गुणों से सम्पन्न सुविशुद्ध परिणाम वाले ज्ञान के आराधक होते हैं ॥ २२३ ॥

देशविरतादिनष्टकषायान्ता वर्धमानशुभलेश्याः ।
शीलगुणभूषितास्ते चरित्राराधका ज्ञेया ॥ २२४ ॥

पाचवे गुणस्थान से बाहरवे गुणस्थान पर्यन्त के जीव शुभ लेश्या से वर्धमान विशुद्ध परिणाम वाले शील गुणो से भूषित वे चरित्र के आराधक हैं । ॥ २२४ ॥

देशविरतादिनष्टकषायान्ता स्वोचितोत्तमाचरणा ।
सशुद्धचित्तयुक्तास्तपसो ह्याराधकागम्या ॥ २२५ ॥

देशविरतादिक से क्षीण कषाय गुणस्थान तक के जीव अपने योग्य उत्तम आचरण वाले से शुद्ध चित्त से युक्त तप के आराधक जानने चाहिये । ॥ २२५ ॥

दर्शनमाराधयताज्ञान ह्याराधित भवेन्नियमात् ।
ज्ञान त्वाराधयता भजनीय दर्शन विद्यात् ॥ २२६ ॥

सम्यग्दर्शन की आराधना करने वाले के द्वारा नियम से ज्ञान अवश्य आराधित होता है किन्तु ज्ञान की आराधना करने वाले के दर्शन भजनीय होता है ॥ २२६ ॥

सम्यग्दर्शनभाजा ज्ञान भावात्मकं सदा ह्यस्ति ।
द्रव्यात्मक च तस्मात्पूर्वार्ध कथितमाचार्ये ॥ २२७ ॥

सम्यग्दर्शनवालो के भावात्मक ज्ञान सदा होता है तथा द्रव्यात्मक श्रुत भी उनके सभव है इसलिये पूर्वार्ध भावश्रुत ज्ञान को आचार्यों के द्वारा सम्य-ग्दर्शन का अविनाभावी बताया है द्रव्य श्रुत तो उसके होता भी है और नही भी होता है ॥ २२७ ॥

मिथ्यादृष्टौ च यतो द्रव्यश्रुतमस्ति तत्समालोक्य ।
शुद्धनयेनोक्त तत्पश्चादर्थ सूरिभिस्तस्तत ॥ २२८ ॥

मिथ्यादृष्टि यति मे भी द्रव्यश्रुत होता है उसका विचार करके आचार्यों के द्वारा सम्यक्त्वी के साथ सम्यग् भाव श्रुत का अविनाभाव बतला कर पश्चात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्य श्रुत का होना भी भजनीय बताया है । अर्थात् सम्यग्दृष्टि मुनि के द्रव्यश्रुत होना भी है और नही भी होता है ॥ २२८ ॥

शुद्धनयाविज्ञान मिथ्यादृष्टिभवति चाज्ञानम् ।
तस्मान्मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानस्याराधको नैव ॥ २२९ ॥

पक्षपात रहित जो शुद्ध नय है या सुनय है उसके विषय मे मिथ्यादृष्टि के अज्ञान होता है अत मिथ्यादृष्टि सुनय=न्याय रूप सम्यग्ज्ञान (स्यादवादका) आराधक नही होता है । वह तो किसी एक नय के आग्रह से युक्त होता है । देखो भगवती आराधना ४२ अपराजित सूरि की टीका । उसमे शुद्ध नय की उक्त सुन्दर परिभाषा दी है ॥ २२९ ॥

सयममाराधयता, तप समाराधित भवेन्नियमात् ।
आराधयता हि तपश्चरित्र भवति भजनीयम् ॥ २३० ॥

जो सयम का आराधना करने वाला है उसके द्वारा तपो कर्म किसी न किसी रूप मे अवश्य आराधित होता है किन्तु जो तपो कर्म से इतर तप का चौथे या पाचवे मे आराधक है । वह सयम का आराधक (भजनीय) होता है

और नहीं भी होता है ॥ २३० ॥

यस्माच्चारित्रवतस्तनुचेतोदर्परोधरूप-तप ।

संलक्ष्यते हि तस्मात्पूर्वाचं विबुभरुपदिष्टम् ॥ २३१ ॥

क्योंकि जो चारित्रवान (सयमी) है उसके तन और चित्त के दर्प (गर्व) को नष्ट करने रूप अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग तप अवश्य शक्ति के अनुसार होता है अत चारित्रवान के साथ तपो कर्म का होना अवश्यभावी है अत विज्ञ पुरुषो के द्वारा पूर्व मे उसको कहा है तथा असयमी के अन्दर होने वाले तप को पश्चात् कहा है-बाद मे कहा है ॥ २३१ ॥

तनुचेतो दर्पहर तपोऽस्त्यसयमवतोऽप्यशुद्धनयात् ।

यत्तत्समुक्तमार्यैरार्या पाश्चात्पूर्वमाचार्यैः ॥ २३२ ॥

शरीर और मन के दर्प को घटाने वाला तप तो अशुद्ध नय की अपेक्षा से असयमी के भी पाया जाता है वह तो आचार्यो पूज्य पुरुषो के द्वारा कहा गया है तथा आर्या छद के अर्ध भाग मे तपो कर्म से इतर सामान्य तप आचार्यो के द्वारा कहा गया है। तप कर्म तो छठे गुणस्थान से ही होता है जो कि षट्-खण्डागम की धवला के वर्गणा खण्ड से अवलोकनीय है किन्तु जो तप सामान्य है वह तो असयमी के भी पाया जाता है अत तप वाले के सयम भजनीय कहा है किन्तु भगवती आराधना आदिक मे तथा षट्खण्डागम मे जो तपो कर्म है वह संयमी के ही होता है अत उस विवक्षा (कहने की अपेक्षा) से तप कर्म के साथ सयम अवश्य रहता है ऐसा वहा कहा है। उस कथन की यहा विवक्षा नही है ॥ २३२ ॥

सम्यग्दृशोऽप्यविरतस्यास्ति तपो नैव शुद्धनयदृष्ट्या ।

तनुचेतोबन्धनमपि पूर्वार्जितपापफलमेतत् ॥ २३३ ॥

अविरत सम्यग्दृष्टि के तप होता है वह शुद्ध नय की अपेक्षा से नही है शरीर और चित्त के दण्डन रूप भी वह पर्व अर्जित पाप के फल रूप होता है। ॥ २३३ ॥

आराधयता चरित, समस्तमाराधित भवेन्नियमात् ।
आराधयता शेष, चरित भजनीयमित्याहु ॥ २३४ ॥

चारित्र की सम्यक् प्रकार से आराधना करने वाले के समस्त शेष आराधनाएँ आराधित होती है ऐसा नियम से जानना चाहिए। शेष की आराधना करने वाले के चारित्र होता भी है और नही भी होता है ॥ २३४ ॥

शुद्धाऽशुद्धनयद्वयमाश्रित्यात्यन्तमागमे निपुणा ।
कथयन्त्यस्य भाव आचार्या ये गुणसमग्रा ॥ २३५ ॥

जो आगम के विषय मे अत्यन्त निपुण है वे शुद्ध और अशुद्ध दोनो नय का आश्रय करके इस आगम के भाव को गुणो से पूर्ण आचार्य=पूज्य पुरुष कहते है ॥ २३५ ॥

इति आराधकजनस्वरूपम्

— आराधना का उपाय —

शङ्काविदोषसंकुलसंन्यागश्चेतसा सदाऽभ्यास ।
नि शङ्कादिगुणाना, सम्यक्त्वाराधनोपाय ॥ २३६ ॥

शङ्का, काक्षा (धर्म के बदले मे विषयो की चाह) विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशसा, अन्यदृष्टिसस्तव, मूढदृष्टित्व, अनुपगूहन, अस्थितिकरण तथा अवात्सल्य इन दोषो के समूह के सशय, विपर्यय (विभ्रम) तथा अनध्यवसाय (विमोह) रूप दोषो का त्याग तथा चित्त से नि शङ्कित नि काक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना इन गुणो का सदा आगमानुसार अभ्यास करना सम्यक्त्व आराधना का उपाय है । उक्त च "नि शकित्व निकाक्षित्व इत्यादि सवेगो निव्वेगो इत्यादि" ॥ २३६ ॥

अक्षरहीनाध्ययनाद्यपोहन ज्ञानभावनाद्यमपि ।
कालाद्यध्ययनयुतं ज्ञानस्याराधनोपाय ॥ २३७ ॥

अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यञ्जन, सन्धि, रेफ आदिक से रहित अध्ययन का त्याग करके शुद्ध शब्द, अर्थ, उभय, काल से सहित, स्मरण रखते हुए, बडे सन्मान और नमस्कार के साथ गुरु का नाम न छुपाते हुए ज्ञान भावना से सहित अध्ययन करना ज्ञान की आराधना का उपाय है कहा भी है –

ग्रथार्थों भयपूर्णं विनयेन सोपधान च,
बहुमानेनसमन्वितमनिह्नव ज्ञानमाराध्य ।
अर्थव्यञ्जन तद्द्वय कालोपधाप्रश्रया ।
स्वाचार्याद्यपह्लवो बहुमतिश्चेत्यष्टधा व्याहृतम् ॥

दुर्लेश्याध्यानव्रतकषाय-दण्ड-प्रमाद-मद-शल्या ।

सयमगारव-भयसज्ञादिकदोषावलीत्याग ॥ २३८ ॥

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के भाव, आर्त्त, रौद्र दुर्ध्यान, दुराचार कषाय, मन वचन काय की दुष्प्रवृत्ति, प्रमाद, मद, शल्य, असयम, रस ऋद्धि सात गारव, भय, मैथुनेच्छा इत्यादिक दोषावली का त्याग सयम का उपाय है ॥ २३८ ॥

व्रत समिति-गुप्ति-सयम-सल्लेश्याध्यानभावना-धर्म ।

शुद्ध्यादिगणाभ्यासश्चारित्राराधनोपाय ॥ २३९ ॥

व्रत समिति-गुप्ति, सयम, शुभ लेश्या, ध्यान, भावना, धर्म, अष्टशुद्धि आदि गण चारित्र की आराधना का उपाय है। आसन, पिण्ड, भाव, वचन ईर्यापथ, विनय, काय और काल शुद्धि, क्षेत्र, वस्तिका (शय्या) ॥ २३९ ॥

द्वाविंशतिभेदपरीषह-विजयःसत्वभावनादीनाम् ।

अभ्यासश्च भवेदिह तपसो ह्याराधनोपाय ॥ २४० ॥

बाईस परिषह सहन, तथा बाईस परिषह विजय, मैत्री शक्ति आदिक भावनाओ का अभ्यास करने से तप की आराधना का उपाय है ॥ २४० ॥

आराधनाफल

आराधनाचतष्क प्रभव फलमपि चतर्विध भवति ।

तत्रैकैक द्विविधत्वमुख्य मुख्यप्रभेदेन ॥ २४१ ॥

चारो आराधनाओ से होने वाला फल भी चार प्रकार का होता है

तथा उसमे से प्रत्येक मुख्य और अमुख्य के प्रभेद से दो प्रकार का होता है ॥ २४१ ॥

एकेन्द्रियजात्यादिष्वनुद्भवःसंभवस्तु नाकादि ।
निलयेष्वमुख्यफलमिह सम्यक्त्वाराधनायास्तत् ॥ २४२ ॥

एकेन्द्रियादिको मे उत्पन्न नही होना तथा स्वर्गादि मे उत्पन्न होना वह सम्यक्त्व आराधना का अमुख्य (गौण) फल है ॥ २४२ ॥

नि शेषदुरितनिवहक्षयकारणमचलरूपतत्त्वरुचि ।
क्षायिकसम्यक्त्व, तन्मुख्यफल बुधजनाभीष्टम् ॥ २४३ ॥

नि शेष दुरित समूह (पाप परिणामो) के क्षय को कारण, अचल तत्वरुचि तथा क्षायिक सम्यक्त्व का होना वह सम्यक्त्व का (कृत कृत वेदक सम्यक्त्व का) मुख्य फल बुधजनो को अभीष्ट है ॥ २४३ ॥

अज्ञानस्य विनाशनमवधिमन पर्ययादिसज्ज्ञानो-
-त्पत्तिश्चामुख्यफल, तज्ज्ञानाराधनोद्भूतम् ॥ २४४ ॥

अज्ञान का विनाश अवधि तथा मनःपर्ययज्ञान आदि समीचीन ज्ञानों का उत्पन्न होना वह ज्ञान आराधना का अमुख्य फल है—गौण फल है ।
॥ २४४ ॥

क्रमकरणव्यवधानापेतस्त्रैकाल्यवर्तिनिखिलार्थ-
द्योती केवलबोधो, मुख्यफलं तत्र भवति भृशम् ॥ २४५ ॥

क्रम करण व्यवधान से (अन्तर से) रहित त्रिकालवर्ति समस्त अर्थ का प्रकाशक केवल ज्ञान उसमे बडा भारी मुख्य फल है ॥ २४५ ॥

परिहाराहारर्द्धिकसूक्ष्मचरित्राविबहुविधोऽभ्युदय ।

सप्तर्द्धयोऽप्यमुख्य फलं चरित्रस्य जानीयात् ॥ २४६ ॥

परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मचारित्र, बहुविध अभ्युदय तथा सप्त ऋद्धियो का प्राप्त होना चारित्र का मुख्य फल है ॥ कहा भी है—

बुद्धितवो वि यलद्धो, विउवणलद्धी तहेव ओसहिया ।

रस-बलअक्खीणा वि, य लद्धीओसत्तपण्णत्ता

बुद्धि, तप, लब्धि, वैक्रियिक लब्धि, तथा औषध ऋद्धि, बल ऋद्धि, अक्षीण महानस, (और अक्षीण महालय) ये सप्त ऋद्धिया तथा उनके भेद प्रभेद चारित्र का गौण फल है ॥ २४६ ॥

भवति यथाख्याताख्य चरित्र निःशेषवस्तुसमभावम् ।

मुख्यफल तद्विद्याच्चारित्राराधना प्रभवम् ॥ २४७ ॥

उस वीतराग विज्ञान या चारित्र आराधना का मुख्यफल यथाख्यात चरित्र तथा समस्त वस्तुओ मे समभाव का होना है ।

सम्यग्दृशि देशयतौ विरतेऽनन्तानुबन्धिविनियोगे ।

दर्शनमोहक्षपके कषायशमके तदुपशान्ते ॥ २४८ ।

क्षपके क्षीणकषाये जिनेऽप्यसख्येयसगुणश्रेण्या ।

निर्जरण दुरितानां तपसो मुख्यफलं भवति । युग्मम् २४९

सम्यग्दृष्टि मे उपशमादिक रूप हो जाने पर जो निर्जरा होती है उससे असख्य गुणी निर्जरा देशव्रती के होता है उससे असख्य गुणी निर्जरा सयत के होती है तथा अनन्तानुबधी के विसयोजन करने वाले मुनि के उससे असख्य

गुणी निर्जरा होती है दर्शनमोह की क्षपणा (क्षय विधि) करने वाले के उससे असख्य गुणी निर्जरा होती है तथा उसके उपशम श्रेणी का आरोहण करने पर असख्यात गुणी निर्जरा होती है जब वह उपशान्त मोह को प्राप्त होकर ग्यारहवे गुणस्थान मे प्राप्त होता है तब उसके असख्यात गुणी निर्जरा होती है तथा क्षपक श्रेणी के माडने पर वह असख्यात गुणी निर्जरा करता है तथा क्षीणमोह नामक बारहवें गुगस्थान मे होना है तो वह असख्यात गुणी निर्जरा करता हैं तथा वह तेरहवे गुणस्थान मे असख्यास गुणी निर्जरा करता है तथा वह समुद्घात और सूक्ष्मक्रिया–प्रतिपाति ध्यान के समय असख्यात गुणी निर्जरा करता है पापो की निर्जरा होना यह तप का अमुख्यफल है ॥ २४८ ॥ २४९ ॥

अतिशयमात्मसमुत्थ विषयातीत च निरुपमनन्तम् ।
ज्ञानमय नित्यमुख्य तपसो जात तु मख्यफलम् ॥ २५०

अतिशय आत्मा से होने वाला इन्द्रिय विषयो से अतीत अतीन्द्रिय उपमारहित तथा अनन्त ज्ञानमय नित्य सुख तप का मुख्य फल है ॥ २५० ॥

। इत्याराधनाफलम् ॥

छद्मस्थतया ह्यस्मिन् यदि बद्ध किञ्चिदागमविरुद्धम्
शोध्य तद् धीमद्भि विशुद्धबुध्या विचार्य पदम् ॥ २५१
श्रीरविचन्द्रमुनीन्द्रै पनसोगे ग्रामवासिभिर्ग्रन्थः ।
रचितोऽयमखिलशास्त्रप्रवीणविद्वन्मनोहारी ॥ २५२

छद्मस्थ होने के कारण से यदि किंचित् इसमे आगम विरुद्ध लिखा गया हो तो विशुद्ध बुद्धि वाले विद्वानो को विचार करके आगमानुसार शब्द

मात्रादिक का संशोधन कर लेना चाहिये। पनसोगे ग्राम मे निवास करने वाले श्री रविचन्द्र मुनीन्द्र के द्वारा अखिल शास्त्र मे प्रवीण जो विद्वान् हैं उनके मन को हरने वाला, यह प्रिय आराधना समुच्चय नाम का ग्रंथ रचा गया है। २५२॥

॥ इत्याराधनासमुच्चय समाप्तम् ॥

श्री १०८ आचार्य वीरसागर शिष्य क्षुल्लक-सिद्धसागरटीका से समलङ्कृत आराधनासमुच्चय समाप्त हुआ।

सोमवासरे सं० २०२५ जेष्ठ कृष्ण-अमावस्या सवाई-जयपुरमध्ये टीका समाप्ता क्षु०सिद्धसागरेण।

श्लोकानुक्रमणिका



उद्धृतपद्यानां सूची